कबीर-संग्रह

संपादक

श्री सीताराम चतुर्वेदी

२०१३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

कबीर-संग्रह

संपादक

श्री सीताराम चतुर्वेदी

एम० ए० (संस्कृत, पाली, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति),
बी० टी०, एल-एल बी०, साहित्याचार्य

२०१३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

तृतीयवार २०००
मूल्य एक रुपया

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

हिन्दी में सन्त कबीरदास की रचनाओं के छोटे-बड़े कई संग्रह समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। किन्तु कबीर साहित्य को पढ़ने और समझने में कुछ ऐसी मौलिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनका सामान्य रूप से अन्य कवियो के अध्ययन के समय नहीं करना पड़ता। कबीर स्वयं पढ़े-लिखे न थे, उन्होंने सूरदास की भाँति (उपदेश, भजन, समाज-सुधार की तरंग में) समय-समय जो कुछ गाया, उसी सामग्री का संग्रह भक्तों ने बाद में कर दिया। कुछ रहस्यवाद, कुछ योग साधना में विश्वास तथा कुछ देशान्तरों में भ्रमण के कारण कबीर की भाषा का ऊबड़-खाबड़पन—इन सबने विद्यार्थी जगत् के सम्मुख अजीब-सी रुकावट खड़ी कर दी है। विद्वान् सम्पादक ने विस्तृत भूमिका देकर कबीर सम्बन्धी प्रायः सब समस्याओं पर विचार किया है तथा पदों के स्पष्टीकरण के लिए भी शब्दार्थ, टिप्पणी तथा कहीं-कहीं व्याख्या भी जोड़ दी है। अतः यह पुस्तक विद्यार्थियों की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय और सुबोध बन पड़ी है। आशा है, कबीर साहित्य के प्रेमी इस नवीन प्रकाशन का स्वागत करेंगे।

—कृष्णदेवप्रसाद गौड़

साहित्य मन्त्री

ग

संपादकीय वक्तव्य

कबीर-संग्रह के सम्पादन का कार्य मुझे सौंपकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने मुझे आदर तो दिया ही, साथ ही मुझे अवसर दिया कि मैं कबीर के सम्बन्ध में अपनी सुषुप्त जिज्ञासाओं को पुनः जागरित करूँ। कबीर की वाणी संग्रह करने में कई बाधाएँ हैं जो कबीर के सभी प्रेमी भलीभाँति जानते हैं; जिनमें से प्रधान है प्रामाणिक पाठ। उसके अभाव में प्रमाणिक संस्था नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और आचार्य श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित कबीर-ग्रन्थावली के पाठ को ही मैंने ग्रहण किया है और संग्रह में यह प्रयत्न किया है कि कबीर के भावों और विचारों का तो प्रतिनिधित्व हो ही, साथ ही उन सभी शैलियों का भी प्रतिनिधित्व हो, जिनमें कबीर ने अपनी वाणी कही है।

अपने इस सम्पादन के प्रयास में मैंने कबीर पर विद्वत्तापूर्ण विचार करने वाले यथासम्भव सभी विचारकों का मत समझने और उनकी तुलना करके कुछ अपने निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है। कबीरचौरे के पास रहने के कारण स्थानीय कबीरपन्थियों से भी मैंने गम्भीरतापूर्वक जिज्ञासु के रूप में विचार किया और अपने इस अध्ययन, मनन और परिशीलन के आधार पर मैंने कबीर के सम्बन्ध में जो परिणाम निकाले हैं, उन्हें भूमिका में मैं संक्षेप में दे रहा हूँ। बहुत-सी बातों में कई विद्वानों से मेरा मौलिक मतभेद है और यह स्वाभाविक भी है। अतः क्षमा माँगने का उपचार दिखाना मैं पाखण्ड समझता हूँ, विशेषतः कबीर पर लिखते समय जो स्वयं पाखण्ड के विरोधी थे।

संग्रह के अन्त में पाठकों, अध्यापकों और अध्येताओं की सुविधा के

लिये शब्दार्थ, भावार्थ और विशेषार्थ दे दिये गये हैं। फिर भी सम्भवतः बहुत-से ऐसे शब्द छूट गये होंगे, जिन्हें मैं सरल समझता हूँ किन्तु अध्येताओं के लिये कठिन हों। अतः जिस किसी को इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई हो वह तत्काल पत्र लिखकर शंकाओं और कठिनाइयों का समाधान कर लें।

ऋषि पञ्चमी सं० २००७
उत्तर बेनिया बाग
काशी

—**सीताराम चतुर्वेदी**

भूमिका

कबीर और उनका काव्य

संसार के सभी देशों के वाङ्मय ने सदा दो रूप धारण किये, एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र-वाङ्मय में भी एक ओर इस अनन्त ब्रह्माण्ड , इसके स्रष्टा और उस स्रष्टा के साथ चर और अचर, चेतन और अचेतन के सम्बन्ध की अनेक जिज्ञासाएँ हुईं, अनेक प्रकार से उस पर तर्कपूर्ण, युक्तिपूर्ण विचार किये गये, अनेक सिद्धान्त निरूपित और प्रतिपादित हुए और उनके आधार पर अनेक आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की स्थापना हुई। एक ने कहा—इस सम्पूर्ण सृष्टि का कोई कर्ता है, दूसरे ने कहा—यह स्वयं उत्पन्न हुई है। उसी शास्त्र-वाङ्मय में दूसरी ओर सांसारिक या लौकिक विषयों का सूक्ष्म विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया। उसके सब पक्षों पर ऊहापोह करके उसके सभी अंगों पर विस्तृत विचार किया गया और उसके परिणाम स्वरूप अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, राजशास्त्र आदि न जाने कितने शास्त्रों का सर्जन हुआ, जो मनुष्य की बुद्धि , उसके मन, शरीर, समाज और राष्ट्र की प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं, व्यापारों, भावनाओं, आवश्यकताओं और अनुभवों के अनुसार उसकी तुष्टि और उसके विकास में योग देते रहे।

काव्य-वाङ्मय में यद्यपि इहलौकिक संसार का ही विश्लेषण किया गया, किन्तु वह लोक कुछ तो प्रत्यक्ष जगत् था और कुछ कल्पना-जगत् (या भावनाजगत् या मानस जगत्)। इस काव्य-वाङ्मय के स्रष्टाओं ने संसार में कुछ ऐसी बातें देखीं सुनीं, जिनसे उनके नेत्र (दर्शन शक्ति), उनके कान (श्रवण शक्ति), उनकी नासिका (घ्राण-शक्ति), उनकी

त्वचा (स्पर्श शक्ति), उनका मुख (आस्वादन शक्ति), उनका हृदय (भावना शक्ति), उनका मन, (सम्वेदना शक्ति) संतृप्त होता गया और उस संतर्पण की संवेदनशील प्रेरणा से अभिभूत होकर उनकी वाणी इस प्रकार मुखरित हो उठी कि वह शब्द और अर्थ में कुछ असाधारण आकर्षण लेकर लोक-मानस को स्पर्श करके उनमें भी वैसा ही संतर्पण उद्दीप्त कराने लगी, जैसा उस वाणी के स्रष्टा को हुआ था। जैसे-जैसे वाणी का शब्द भाण्डार बढ़ता गया, शब्दों की शक्ति चारों ओर हाथ पैर फैलाने लगी, शक्ति के कारण उक्तियों में नवीनता और चमत्कार आने लगा, वैसे-वैसे उस मानस संतर्पण के प्रकार बढ़ते गये और काव्य न जाने कितने रूपों में हमारे सम्मुख भासमान होकर मानव-समाज के भावना-जगत् को तुष्ट, पुष्ट और प्रभावित करने लगा।

शास्त्र और काव्य के इन दो भिन्न वाङमय-पथों के बीच कुछ वाक्-स्रष्टाओं ने ऐसा पन्थ भी निकाल लिया, जिसमें शास्त्र को स्पष्ट करने के लिए, उसकी व्याख्या करने के लिए काव्य का भी आश्रय ले लिया गया। शास्त्र के स्वरूप में जो नीरसता और रूक्षता थी उसे काव्य के सहयोग से सरस और स्निग्ध बनाकर अलौकिक पारमार्थिक तत्त्वों को इतना मनोरंजक और रमणीय बना दिया गया कि साधारण बुद्धि का मनुष्य उस तत्त्व की मार्मिकता से अपरिचित रहते हुए भी उसका भाव ग्रहण करने में कठिनता न अनुभव कर सके। शास्त्र और काव्य का यह मधुर समन्वय सर्वप्रथम आरण्यकों और उपनिषदों में हुआ, जिसमें शास्त्र और काव्य पक्ष दोनों एक साथ किन्तु एक दूसरे को पुष्ट करते दिखाई देने लगे। इसके पश्चात् बाल्मीकि और व्यास ने महाकाव्यों का ऐसा भव्य रूप प्रस्तुत किया जहाँ काव्य की महाधारा में शास्त्र घुल-मिल कर ऐसा एकरंग हो गया कि उसका पान करने वाला निश्चित रूप से काव्य के साथ बिना परिश्रम के शास्त्र को भी पान करने लगा और शास्त्र के तत्व को पूर्णतः अनजाने ही आत्मसात् कर लेने लगा। इतना होने पर भी शास्त्र और काव्य की

मर्यादाएँ, उनकी सीमाएँ अलग-अलग बनी रहीं और अलग-अलग उनका संवर्द्धन और विवर्द्धन होता रहा।

संयोग से हिन्दी साहित्य शास्त्र में और काव्य का यह भेद प्रवेश न पा सका। क्योंकि जब दार्शनिक महात्माओं और सन्तों ने इस भाषा का प्रयोग करना प्रारम्भ किया, उस समय यह विभिन्न प्रान्तों के लोगों के परस्पर व्यवहार की एक बोली मात्र थी। सन्तों ने इसे सर्वव्यापक भाव-संक्रमण का माध्यम मानकर अपने दार्शनिक विचारों को कुछ लोकसिद्ध दृष्टान्तों उदाहरणों, आख्यानों, रूपकों और उपमानों के साथ दोहों, चौपाइयों, और गेय पदों में जनता के समक्ष रक्खा और जनता भी इन युक्तियों के संगीतमय और काव्यमय रूपों से आकृष्ट होकर इन्हें सुनने लगी, अपनाने लगी, प्रयोग करने लगी। फल यह हुआ कि शास्त्र और काव्य ऐसे घुलमिल गये कि उन्हें शास्त्र मानते हुए भी उनके काव्यावरण को हम अलग न कर पाये। निर्गुणवादी सन्तों, सूफियों और भक्तों सभी ने यह राजमार्ग अपनाया और इन्हीं की कृपा का फल है कि हिन्दी में पद्मावत, रामचरित मानस और सूरसागर जैसे काव्य और महाकाव्यों का उदय हुआ? निर्गुण सन्तों की लेखनी से महाकाव्य के सर्जन की सम्भावना भी नहीं थी और आशा भी नहीं थी कि एक तो उनके निर्गुण ईश्वर में महाकाव्य का आलम्बन बनने की समर्थता नहीं थी और दूसरे इन सन्तों ने काव्यशास्त्र के या भाषा के रूप पर कभी ध्यान न दिया। इसीलिए निर्गुणवादी सन्तों ने पदों और दोहों में ही अनगढ़ सधुक्कड़ी भाषा का आश्रय लेकर अपने सिद्धान्तों का पोषण करके सन्तोष किया। उन्होंने महाकाव्य की कल्पना भी करना आवश्यक न समझा। ऐसे ही सन्त कवियों में कबीर भी थे।

कबीर का जन्म और उनका जीवन चरित्र

कबीर ने पार्थिव माता के गर्भ से जन्म लिया था अथवा वे दिव्य अयोनिज शरीर लेकर अवतरित हुए—यह विवादग्रस्त विषय होते हुए

भी बहुत महत्त्व का नहीं। क्योंकि इतना तो दोनों पक्ष मानते ही हैं कि मानव शिशु के रूप में नीरू और नीमा के समक्ष उनका आविर्भाव हुआ था। अपने इष्टदेव अथवा इष्ट महापुरुष के साथ अलौकिक आख्यानों का आरोप कर लेना श्रद्धा की सर्वप्रथम विशेषता होती है। क्योंकि जब तक अपने श्रद्धेय में मनुष्य अलौकिकता का आभास देखने की चेष्टा नहीं करता, तब तक उसकी अनुरक्ति में श्रद्धा का रस नहीं बन पाता? इतना ही नहीं, वह उस श्रद्धा को पल्लवित करते रहने के लिए अपने श्रद्धेय में, उसके कार्यों और उसकी लीलाओं में अद्भुत् और अलौकिक उद्देश्यों और परिणामों की भावना भी करने लगता है और ये भावनाएँ सत्त्व गुण से युक्त होने के कारण उसके विश्वास की अंग बन जाती हैं। वह अपने संकल्पों के फलों या परिणामों को भी उसी श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखने के कारण बुरे फल को भी अच्छा समझने की आत्म-तुष्टि सिद्ध कर लेता है। इसलिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि कबीर-पन्थियों ने भी कबीर के आविर्भाव की कुछ ऐसी ही श्रद्धा-प्रेरित अद्भुत् कथा की कल्पना कर ली हो जो बुद्धिवादी जगत् के वैज्ञानिक तर्कों से असंगत और अयुक्त होते हुए भी भाववादी भक्तों की श्रद्धा की दृष्टि से पूर्णतः संगत और युक्ति युक्त हो।

ऐसे कबीर पन्थी श्रद्धालुओं का विश्वास है कि सम्वत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा थी। आकाश में नये श्यामल मेघ अपनी मन्द गम्भीर ध्वनि से घर्मतप्त धरित्री को तृप्ति की सान्त्वना दे रहे थे। रह-रह कर चम-चमाती हुई चपला किसी नये अलौकिक प्रकाश के अवतरण का संकेत दे रही थी, अपने कोष में बन्दी भ्रमरों को मुक्त करके सभी कमल किसी अलौकिक सूर्य के दर्शन के लिए मुसकाने लगे थे, अनायास मुक्ति पाये हुए बन्दी भ्रमरों ने इस उल्लास में स्वतन्त्रता का संगीत प्रारम्भ कर दिया था, मयूर अपनी पिच्छिकाएँ खोल कर आनन्द-मग्न होकर नाचने लगा था, हंस केलि करने लगे थे और चकोर कलरव करने लगा था। ऐसा जान पड़ता

था मानो सम्पूर्ण प्रकृति किसी दिव्यात्मा के स्वागत के लिए हड़बड़ा कर सजग हो उठी हो। उसी समय सहसा तीन लोक से न्यारी परम पवित्र काशी के लहराते हुए लहर तालाब (लहरतारा) में खिले हुए एक सुन्दर पुण्डरीक पर आकाश से एक महापुरुष उतरा। उसी महापुरुष ने कुछ ही घड़ियों पीछे सौभाग्य-शालिनी नीमा के अंक को बालक बनकर सुशोभित किया और उसके पति परम सौभाग्यशाली नीरू को पोषण करने का सौभाग्य दिया !

कबीरदास के पटशिष्य और उनके उत्तराधिकारी धर्मदास ने भी इसी का समर्थन करते हुए लिखा ––

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पुरनमासी प्रगट भए॥
घन गरजे दामिनी दमके, बूँदें बरषें झर लाग गए।
लहरतालाब में कमल खिले, तहँ कबीर भानु प्रगट हुए॥

(सम्वत् चौदह सौ पचपन बीत जाने पर चन्द्रवार को एक नया ठाठ दिखाई दिया कि ज्येष्ठ शुक्ला बरसायत (वट-सावित्री) के दिन पूर्णिमा को (कबीरदास ने) जन्म लिया। उस दिन जब कबीर रूपी सूर्य प्रकट हुए उस समय बादल गरज रहे थे, बिजली चमक रही थी, बूँदों की झड़ी लग गयी थी और लहरतालाब के कमल खिल उठे थे।)

ऊपर धर्मदास ने जो विवरण दिया है, उसमें कहीं यह वर्णन नहीं मिलता कि वे आकाश से दिव्य महापुरुष के रूप में एक खिले हुए कमल पर उतरे। उनका तो इतना ही कहना है कि सम्वत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को वट-सावित्री पर्व के दिन चन्द्रवार को जब बादल गरज रहे थे, बिजली चमक रही थी और वर्षा हो रही थी, उसी समय कबीरदास जी प्रकट हुए।

कहा जाता है कि एक दिन विधवा ब्राह्मणी युवती अपने पिता के साथ

काशी में स्वामी रामानन्द जी के दर्शन करने गयी। ज्यों ही उसने भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम किया त्यों ही उनके मुंह से हठात् आशीर्वाद निकल पड़ा —— 'पुत्रवती भव'। उसके पिता ने जब कन्या के वैधव्य की कथा सुनाई तो स्वामी रामानन्द जी ने कहा मेरा आशीर्वाद तो विफल नहीं हो सकता, किन्तु इसे कलंक नहीं लगेगा। समय पाकर उसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ, जिसे वह लहरतारा के पास छोड़ आयी। उसी समय नीरू नाम का मुसलमान जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ गौना कराकर लौट रहा था। उन्होंने देखा कि तालाब के पास एक बच्चा पड़ा है। नीरू के रोकने पर भी नीमा ने उसे उठा लिया और अपने साथ ले गयी। इसी बालक का नाम कबीर रखा गया।

बहुत से श्रद्धालु कबीर-पन्थियों का यह विश्वास है कि कबीरदास जी का जन्म उस विधवा ब्राह्मणी कन्या की हथेली से हुआ था इसीलिए वे करबीर (हाथ के पुत्र) या कबीर कहलाये। कबीर चरित्रबोध में उनका जन्म बड़े विलक्षण ढंग से बताया गया है ——

कबीर साहब का काशी में प्रकट होना

"संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरुष का तेज काशी के लहरतालाब में उतरा। उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया। . . . . .उस समय अष्टानन्द वैष्णव तालाब पर बैठे थे, वृष्टि हो रही थी, बादल आकाश में घिरे रहने के कारण अंधकार छाया हुआ था और बिजली चमक रही थी, जिस समय वह प्रकाश तालाब में उतरा उस समय समस्त तालाब जगमग-जगमग करने लगा और बड़ा प्रकाश हुआ। वह प्रकाश उस तालाब में ठहर गया और प्रत्येक दिशाएँ जगमगाहट से परिपूर्ण हो गयीं।"

पीछे जो "चौदह सौ पचपन साल गए' वाला दोहा दिया गया है उसके अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५ की पूर्णिमा को सोमवार के दिन

हुआ था। बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी ग्रन्थावली की भूमिका में लिखा है कि—"गणना करने से संवत् १४५५ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् १४५६ निकलता है क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है "चौदह सौ पचपन साल गये" अर्थात् उस समय तक संवत् १४५५ बीत गया था। गणना से संवत् १४५६ में चन्द्रवार को ही ज्येष्ठ पूर्णिमा पड़ती है। अतएव इस दोहे के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ।" 'कबीर का रहस्यवाद' के परिशिष्ट 'ख' में इस सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा गया है—

"किन्तु गणना करने पर ज्ञात होता है कि चन्द्रवार को ज्येष्ठ पूर्णिमा नहीं पड़ती। चन्द्रवार के बदले मंगलवार दिन आता है।" इस प्रकार आचार्य श्यामसुन्दरदास के मत का खंडन करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने दोहे में आये हुए 'जेठ सुदी बरसायत को' पद के 'बरसायत' शब्द को महत्व देते हुए और भारत-पथिक कबीर-पंथी स्वामी श्री युगलानन्द की 'बरसायत' पर टिप्पणी का उल्लेख करते हुए कबीर साहब का काशी में प्रकट होकर नीरू को मिलने की कथा भी दी है—

"यहि बिधि कछुके दिवस चलि गयऊ।
तजि तन जन्म बहुरि तिन पयऊ॥
मानुष तन जुलहा कुल दीन्हा।
दोउ संयोग बहुरि बिधि कीन्हा॥
काशी नगर रहे पुनि सोई।
नीरू नाम जुलाहा होई॥
नारि गवन लावत मग सोई।
जेठ मास बरसाइत होई॥"

और यह निष्कर्ष निकाला है कि—

इस पद और टिप्पणी के आधार पर कबीर का जन्म जेठ की (वट-सावित्री के दिन) 'बरसाइत' (अमावस्या को) हुआ।"

इस पर विवेचन करते हुए यह बताया गया है कि मोहनसिंह ने 'कबीर-हिज बायोग्रेफी' में सं० १४५५ (सन् १३९८) को ही कबीर का जन्म संवत् बताया है पर....'यहां भी बरसाइत और पूरनमासी' की प्रतिद्वंद्विता है।"

किन्तु यदि ध्यान पूर्वक और विचारपूर्वक उस दोहे को पढ़ा जाय तो किसी प्रकार का विरोध 'बरसाइत' और पूरनमासी' में नहीं रह जाता। दोहा कहता है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

इसका शुद्ध अर्थ यह है—

"संवत् चौदह सौ पचपन (१४५५) वर्ष में ज्येष्ठ सुदी (शुक्ला) वटसावित्री (अमावस्या) चन्द्र ने एक दिन ऐसा नया ठाट बनाया कि उस दिन पूर्ण चन्द्र होकर (कबीर होकर) प्रकट हो गए।" इस दोहे में सुदी शब्द भ्रामक है और लोकमुख में पड़कर ही बदी' (कृष्णपक्ष) का 'सुदी' (शुक्लपक्ष) हो गया है। अतः 'बरसाइत' और पूर्णिमा का जो द्वन्द्व दिखाई पड़ता था, वह ठीक अर्थ न करने के कारण ही था। दोहे में यही चमत्कार वर्णन किया गया है कि अमावस्या के दिन पूर्णिमा (पूर्णचन्द्र) के दर्शन हो गए, अन्धकार का विनास हो गया। श्रीमद्भागवत में दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के तृतीय अध्याय में भगवान् कृष्णचन्द्र के जन्म का भी ऐसा ही वर्णन दिया गया है—

"मुनिगण और देवगण प्रसन्न होकर फूल बरसाने लगे। उसी ओर अंधकारमय (भाद्रपद कृष्णपक्ष की अष्टमी की रात्रि को) आधी रात के समय हरि ने जन्म लिया। उस समय सागर के साथ ही मेघ भी मन्द-मन्द

गर्जन करने लगे। जैसे पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो वैसे ही देवकी के गर्भ से सर्वान्तिर्यामी हरि प्रकट हुए।" (७-८)

सन्तों के उदय को गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी चन्द्रमा के उदय के समान ही माना है। वे कहते हैं—

सन्त उदय सन्तत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

(सन्तों का उदय निरन्तर सुख देनेवाला होता है जैसे अन्धकार दूर करने वाला चन्द्रमा संसार को सुख देता है।)

इसलिये पूर्णचन्द्र के समान कबीर का जन्म संवत् १४५५ को ज्येष्ठ मास में वटसावित्री पर्व के दिन हुआ।

कुछ विद्वानों ने विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से कबीर की उत्पत्ति न मानने के कुछ कारण देते हुए आदि गुरु ग्रंथ साहिब में से भक्त रैदास के एक पद के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कबीर मुसलमान वंश में उत्पन्न हुए थे।

जाके ईद बकरीद कुल गऊ रे बध करैं मानैं सहीद पीरा॥
जाके बाप वैसी करी, पूत ऐसी सरी तिहूं रे लोक परसिध कबीरा॥

(जिसके कुल में ईद बकरीद के दिन लोग गो बध करते हों, शहीद और पीरों की मिन्नत-मानता करते हों उसी कुल में अपने पिता से अलग चलते हुए भी कबीर तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गए।)

पर इस पद में 'बाप' शब्द पोषक पिता का बोधक है जन्मदाता का नहीं क्योंकि पिता तीन प्रकार के माने गए हैं। जन्म देने वाला पिता, पालने वाला पिता और विद्यासंस्कार देने वाला पिता (गुरू)। अतः निरू को हम पोषक पिता ही मान सकते हैं। रही यह बात कि यदि विधवा ब्राह्मणी ने लुक-छिपकर कबीर को लहरतारा के तालाब पर छोड़ दिया तो लोगों को यह कैसे पता चला कि वह विधवा ब्राह्मणी का था। इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। ऐसी बात छिपी तो रहती नहीं पर घर बाहर के लोग

उसे छिपाने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह संभव है कि कुछ लोगों को यह बात ज्ञात हो और बच्चा उठाते समय नीरू-नीमा को लोगों ने देखा हो, उनका ठिकाना जान लिया हो, फिर ब्राह्मणी के गर्भ की कथा भी ज्ञात हो गई हो और यह सर्वविदित हो गया हो कि अमुक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न बालक को अमुक जुलाहा ले गया।

सद्गुरु गरीबदास जी साहब की वाणी में 'पारख का अंग' शीर्षक से कबीर का यह जीवन-चरित दिया गया है—

गरीब सेवक होय करि ऊतरे इस पृथ्वी के माँहि।
जीव उधारन जगतगु बार बार बलि जाँहि॥३८०॥
(गरीब) कार्शीपुरी कस्त किया उतरे अधर उधार।
मोमिन को मुजरा हुआ जंगल में दीदार॥३८१॥
(गरीब) कोटि किरण शशि भानु सुधि आसन अधर विमान।
परसत पूरण ब्रह्म कूँ शीतल पिंडरु प्राण॥३८२॥
(गरीब) गोद लिया मुख चूँबि करि हेमरूप झलकंत।
जगर मगर काया करे दमकैं पदम अनन्त॥३८३॥
(गरीब) काशी उमटी गुलभया मोमन का घर घेर।
कोई कहै ब्रह्म विष्णु है कोई कहै इन्द्र कुबेर॥३८४॥

इससे डा० रामकुमार वर्मा ने यह परिणाम निकाला है कि "कबीर ने काशी में सीधे मुसलमान (मोमिन) ही को दर्शन देकर उसके घर में जन्म ग्रहण किया और मोमिन ने शिशु कबीर का मुँह चूमकर उसके अलौकिक रूप के दर्शन किये। इस अवतरण से भी कबीर की ब्राह्मणी विधवा से उत्पन्न होने की किम्वदन्ती गलत हो जाती है। सद्गुरु गरीबदास जी साहब की वाणी भी प्रामाणिक ग्रंथ माना जाना चाहिए क्योंकि वह संवत १८६० की एक प्राचीन हस्तलिपि प्रति के आधार पर प्रकाशित की गई है।"

किन्तु विद्वान् विवेचक ने दो बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया है।

एक तो यह कि १८६० को प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित होने के कारण ही गरीबदास जी की वाणी क्यों प्रामाणिक मानी जाय। दूसरी बात यह है कि गरीबदास जी को यह निश्चय होता कि कबीर के माता पिता मोमिन मुसलमान थे तो वे उनका विशेष परिचय भी देते और उनके लिए यह कभी न कहते:—

"मोमिन को मुजरा हुआ जंगल में दीदार"

यह "जंगल में दीदार" वाक्य ही इस बात की घोषणा कर रहा है कि नीरू और नीमा को कबीर जंगल में ही पड़े मिले थे और "गोद लिय मुख चूंबि करि" पद भी इसी का समर्थन करता है कि कबीरदास पड़े हुए मिले थे जिसे उस मोमिन या मुसलमान ने उठाकर गोद में ले लिया। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर तथा उसके प्रति करुणा और स्नेह प्रकट करते हुए उसका मुंह चूम लिया।

वाणी के कुछ ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनसे उन्हें मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें उन्होंने अपने को जुलाहा कहा है किन्तु अपने को जुलाहा कहने से यह नहीं सिद्ध होता कि उनके जनक और जननी भी जुलाहे थे। उद्धरण ये हैं :—

१. तनना बुनना तज्या कबीर, रामं नामं लिखि लिया सरीर।
२. जुलहै तनि बुनि पांन (पार) न पावल फारि बुनि दस ठांई हो॥
३. जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरखि हरखि गुण रमै कबीर॥
४. तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा चीन्हिन मोर गियाना॥
५. जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी॥
६. कहत कबीर मोहि भगत उमाहा, क्रत करणीं जाति भया जुलाहा॥
७. ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै यूँ ढुरि मिल्या जुलाहा॥
८. गुरु प्रसाद साध की संगति, जग जीतैं जाइ जुलाहा॥

इन उपर्युक्त उद्धरणों में केवल व्यवसाय का ही संकेत है, जाति या जन्म-

कुल का नहीं। अतः निश्चित प्रमाणों के अभाव में यह मानना ठीक नहीं है कि कबीर ने मुसलमान माता के गर्भ से जन्म लिया था।

जिस प्रकार की अनिश्चियता कबीर के जन्म के संबंध में है लगभग उसी प्रकार की उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी है। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में दो दोहे मिले हैं——

१——सम्बत् पन्द्रह सौ औ पाँच मौ मगहर कियो गमन।
अगहन सुदी एकादशी मिले पवन में पवन।।
२——सम्बत् पन्द्रह सौ पछत्तरा कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी रलो पवन में पवन।।

इनमें से एक के अनुसार उन्होंने सम्बत् १५०५ में शरीर छोड़ा और दूसरे के अनुसार १५७५ में। कबीर पन्थियों के विचार से उनका निधन सम्वत् १५७५ ही माना जाता है, इसका अर्थ यह है कि उन्होंने १३० वर्ष की पूर्णायु का भोग किया। अभी तक कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह निश्चय रूप से कहा जा सके कि वास्तव में उनका निधन किस वर्ष में हुआ, किन्तु कबीरपन्थी जो मानते चले आए हैं उसे मानने में परम्परागत सत्य का भी पालन हो जाता है, इसलिये १५७५ सम्वत् ही उनका निधन सम्वत् समझना चाहिए।

मंत्र-दीक्षा

कबीरदासजी जन्मतः मुसलमान नहीं थे इसका सबसे अधिक ज्वलन्त प्रमाण तो यह है कि बचपन से ही उनके मन में हिन्दू संस्कारों के प्रति आस्था थी और यह कहा जाता है कि उस समय के सबसे बड़े महात्मा स्वामी रामानन्द जी के शिष्यों के समान वह तिलक भी लगाने लगे थे। स्वामी रामानन्दजी के उदार और विशाल व्यक्तित्व का इतना प्रभाव था कि सभी वर्गों के लोग उनमें श्रद्धा करते थे। उनकी वर्द्धमान कीर्ति से लुब्ध होकर कबीर ने भी सोचा कि मैं भी उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का गौरव प्राप्त करूँ। अपना

यह सत्संकल्प लेकर एक दिन बालक कबीर-स्वामी रामानन्दजी की सेवा में पहुँचा और उनसे उसने निवेदन किया कि मुझे भी माला देकर अपने धर्म में दीक्षित कर लीजिए। किंतु मुसलमान के घर पोषण होने के कारण उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। किन्तु उनको तो सच्ची लगन लगी हुई थी। एक दिन तड़के ही वे काशी में पंचगंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जाकर लेट गए जिन पर से उतरते हुए स्वामी रामानन्द जी गंगा स्नान के लिये आया करते थे। अभी पौ भी नहीं फटी थी। अँधेरे मुँह उठकर स्वामीजी सीढ़ियों से उतर ही रहे थे कि कबीर के सिर पर उनका पैर जा पड़ा। 'राम-राम' कहते हुए उन्होंने पैर हटा लिया और बचकर उतर गए। कबीर ने इस 'राम-राम' को ही गुरुमन्त्र मान लिया और अपने को स्वामी रामानन्दजी का शिष्य घोषित कर दिया और उनके शिष्यों के समान आचार व्यवहार बना लिया। कबीर के पोषक माता-पिता को उसका यह आचरण अच्छा न लगा और उन्होंने जाकर स्वामी रामानन्दजी को उपालंभ दिया। स्वामीजी ने कबीर से बुलाकर पूछा कि हमने तुझे कब मन्त्र दिया। कबीर ने घाटवाली घटना निश्छल होकर सुना दी। स्वामी रामानन्दजी गद्‌गद् हो उठे। उन्होंने कबीर को उठाकर गले लगा लिया।

इसमें कोई सन्देह की बात नहीं, कि वे स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे यद्यपि डा० श्यामसुन्दरदासजी ने 'कबीर ग्रन्थावली' की भूमिका में इस सबंध में शंका प्रकट की है किन्तु उस शंका का कोई निश्चित आधार न होने से और 'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए' उक्ति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन्हें प्रथम व्यवस्थित ज्ञान स्वामी रामानन्दजी से ही प्राप्त हुआ था जिससे उन्हें ठीक मार्ग मिल गया। कबीर-कसौटी में भी कुछ पद इसी के समर्थन में प्राप्त होते हैं—

काशी में कीरति सुनि आई, कबीर मोहि कथा बुझाई।
गुरु रामानन्द चरण कमल पर धोबिन (माया) दीनी वार :

काशी में प्रगटे दास कहाए नीरू के गृह आए।
रामानन्द के शिष्य भए, भवसागर पंथ चलाए॥

न जाने कहाँ से यह प्रवाद भी चल पड़ा कि कबीर के गुरू शेख तकी थे। कबीर की उक्तियों में जहाँ कहीं तकी का नाम आया है वहाँ ऐसा प्रतीत होता है मानो तकी ही कबीर के शिष्य हों—'घट घट है अबिनासी, सुनहु तकी तुम शेख।' जिस कबीर ने अपनी रचनाओं में स्थान स्थान पर गुरू के महत्व की स्पष्ट स्थापना की हो और गुरू को गोविन्द से भी बड़ा बताया हो वह कभी अपने गुरू के प्रति दुःशीलता प्रदर्शित करके उसे साधारण व्यक्ति के समान सम्बोधित नहीं कर सकता। किन्तु 'रामानन्द चेताए' से यदि यह ध्वनि निकाली जाय कि पहले ये शेख तकी के ही शिष्य थे किन्तु पीछे स्वामी रामानन्दजी के संपर्क में आकर उन्होंने शेख तकी के उपदेशों और सिद्धान्तों को असार समझ कर छोड़ दिया हो और रामानन्द के शिष्य होकर उन्हीं के वचनों को प्रामाणिक मानकर अपने गुरु का खंडन किया हो तो ठीक हो सकता है। किन्तु कबीर जैसे महात्मा से यह भी आशा नहीं की जा सकती कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करके भी वे अपने ही पहले गुरू को अनादार के साथ संबोधित करेंगे। किन्तु यह अभी तक रहस्य है कि स्वामी रामानन्द जी ने कबीर को 'चेताया' किस प्रकार क्योंकि कबीर की रचनाओं में कहीं भी स्पष्ट रूप से इसका आभास नहीं मिलता कि उन्होंने किस प्रकार और क्या नई बात स्वामी रामानन्द जी से सीखी और उस नई बात का दार्शनिक आधार क्या था। अतः यह निश्चय है कि या तो अपनी स्वाभाविक वैष्णव उदारता के कारण स्वामी रामानन्द जी ने 'हरिको भजै सो हरिका होई' के अनुसार कबीर को दीक्षा देकर शिष्य बना लिया हो या कबीर ने ही एकलव्य की भाँति स्वामी रामानन्द को अपना गुरु मान लिया हो।

गृहस्थ जीवन

बहुत से कबीरपंथियों का मत है कि उन्होंने कोई विवाह नहीं किया

वरन् लोई नाम की स्त्री उनके साथ आजन्म रही। किन्तु कबीर-पंथियों की यह बात किसी भी प्रकार से प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। कबीर साहब ने स्वयं लिखा है——

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं बिचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा बिकार॥

इस दोहे का शुद्ध और निश्छल अर्थ यही है कि उनका विवाह अवश्य हुआ था किन्तु उसके कारण साधना में बाधा होते देखकर उन्होंने उससे अलग रहना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने स्वयं कहा है——

नारि नसावे तीन गुन, जो नर पासे होय।
भक्ति मुक्ति नित ध्यान में, पैठि सकै नहिं कोय॥
नारी की झाँई परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी को संग॥

इन उक्तियों से भी यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कबीर ने अपने ज्ञान-ध्यान में बाधा देनेवाली नारी को अपने से दूर ही रक्खा होगा। इसलिये यह कहना उचित न होगा कि लोई नाम की कोई अविवाहिता स्त्री उनके साथ रही।

एक और भी उक्ति प्रसिद्ध है——

बूड़ा बंस कबीर का, उपजा पूत कमाल।

इसी के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि कमाल उनका पुत्र था और कमाली उनकी पुत्री। जो श्रद्धालु कबीरपंथी लोई को कबीर की पत्नी नहीं मानते और यह विश्वास करते हैं कि कबीर ने कभी विवाह नहीं किया उनका कथन है कि कमाल और कमाली किसी दूसरे गृहस्थ की संतान थीं। संयोग से दोनों की मृत्यु हो गई और वे एक स्थान पर डाल दिये गये। कबीर-साहब ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन्हें जिला कर पाला और तभी से ये दोनों उनकी संतान माने जाते हैं। किन्तु लोई के सम्बन्ध में जो कथा प्रसिद्ध

है उससे यही सिद्ध होता है कि कमाल और कमाली दोनों कबीर की ही औरस सन्तान थीं।

कहा जाता है कि एक बार अपनी मस्ती में घूमते घामते कबीर साहब गंगाजी के तटपर कुटिया छाकर रहनेवाले एक बनखंडी वैरागी के आश्रम में पहुँचे। उस वैरागी की युवती कन्या ने उनका स्वागत किया और बैठाया। थोड़ी ही देर में कुछ और भी साधु आ पहुँचे। शिष्टाचार और अतिथि-सत्कार का नियम पालते हुए उस कन्या ने एक पात्र में दूध लाकर उन साधुओं के बीच में रख दिया। साधुओं ने सात पनवाड़ों में दूध बाँट कर पाँच आपस में ले लिये, एक कबीर को दिया और शेष उस कन्या को। कबीर ने अपना भाग पृथ्वी पर रख दिया और मौन होकर बैठ गये। उस कन्या ने बड़े संकोच के साथ प्रश्न किया कि मेरी सेवा अंगीकार क्यों नहीं की जा रही है। कबीर ने छूटते ही उत्तर दिया—देखो गंगा पार से एक साधु आ रहा है, उसी के लिये मैंने यह दूध रख छोड़ा है। थोड़ी देर में सचमुच गंगा पार से वह साधु आ पहुँचा। कबीर की इस निस्वार्थता और सज्जनता से वह कन्या इतनी प्रभावित हुई कि वह कबीर के साथ उनके घर चली आई और कबीर से विवाह कर लिया। यही लोई थी जो उस बनखंड़ी वैरागी को अचानक गंगा तट पर पड़ी हुई मिली थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीरदास जी जहाँ एक ओर साधुओं की संगति करते थे वहीं दूसरी ओर अपने घर का काम अर्थात् कपड़े बुनने का कार्य करते थे। और इस बात का उल्लेख उन्होंने बड़े गर्व के साथ किया है—

हम घर सूत तनहिं नित ताना।

जान पड़ता है कि जब ये संतों की संगति में रह कर उनके रंग में भली भाँति रंग गये तब उन्होंने अपने घर के काम से हाथ खींच लिया। उन्होंने एक शब्द में कहा है—

मुसि मुसि रोवैं कबीर की माँय,
ए बालक कैसे जीवें रघुराय।

तनना बुननां सब तज्यौ है कबीर,
हरि का नाम लिखि लिया शरीर।
जब लगि तागा बाहौं बेही,
तब लगि बिसरैं राम सनेही।
ओछी मति मेरी जात जुलाहा।
हरि का नाम लह्यौ मैं लाहा॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माँई।
हमारा इनका दाता एक रघुराई॥

कबीरदासजी की उदारता और विशालहृदयता के सम्बन्ध में कुछ बड़े मनोरंजक आख्यान कहे जाते हैं। एक बार वे एक थान कपड़ा बुन कर उसे बेचने के लिये हाट को चले। अभी कुछ दूर ही चल पाये थे कि एक साधु बहुत गिड़गिड़ाकर और दीनता की मुद्रा साध कर इनके आगे पहुँच कर बोला कि बाबा कुछ दे। कबीरदास जी ने झट आधा थान फाड़कर उसके फैले हुए हाथ पर रख दिया। साधु बोला—इतने से मेरा काम नहीं चलेगा। इस पर बचा हुआ थान भी साधु के हाथ पर रखकर कबीर घर लौट आये।

इसी प्रकार उनकी सत्यनिष्ठा की भी बड़ी मार्मिक कथा प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक दिन कबीर-साहब के घर बहुत से साधु आ पहुँचे। उनके स्वागत सत्कार के लिये एक चुटकी आटा भी घर में नहीं था। वे बड़े फेर में पड़े कि इन साधुओं का सत्कार कैसे किया जाय। लोई ने अपने पति को व्यग्र देखा तो बोली कि आप चिन्ता न करें। यदि आज्ञा दें तो मैं साहुकार के बेटे से रुपये ले आऊँ क्योंकि वह मुझपर आसक्त है और मेरी बात टाल नहीं सकता। कबीर ने कहा अच्छा जाओ और ले आओ क्योंकि साधुओं की सेवा तो करनी ही है। लोई गई और थोड़ी ही देर में रुपये लेकर चली आई। बड़ी विधि से साधुओं के लिये भोजन बनाया गया और साधुओं की सेवा की गई। लोई ने पये लाते समय साहूकार के पुत्र को यह वचन दिया था कि मैं रात को मिलने आऊँगी और यह बात उसने कबीर से भी

बता दी। संध्या होते होते बादल घिर आये। धुँआधार वर्षा होने लगी। प्रचंड़ झंझा के झकोरों से वृक्ष और झोपड़ियाँ काँप उठीं पर सत्यनिष्ठा कबीर विचलित नहीं हुए। उन्होंने कम्बल उढ़ाकर अपनी पत्नी को कंधे पर बैठाया और साहूकार के घर पहुँच गये। लोई को आया देखकर उस धनिक पुत्र की बाछें खिल गईऔर उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नीचे से ऊपर तक लोई को एक बूंद भी नहीं छू पाई है। उसने पूछ ही तो लिया—तुम वर्षा से बचकर कैसे चली आई। उसने उत्तर दिया मेरे पति मुझे कंधे पर चढ़ाकर ले आये हैं। सुनते ही धनिक पुत्र को तो मानों काठ मार गया, उसकी भीतर की आंखें खुल गई: हाथ जोड़कर घुटने टेक कर वह लोई के पैरों पर गिर पड़ा और बोला "क्षमा करो माता! मुझे अपना पुत्र स्वीकार करो।" वहाँ से डरकर वह दौड़ा हुआ बाहर आया और कबीर के चरणों में लिपट कर रो रो कर क्षमा मांगने लगा और उसी दिन से उनका सच्चा सेवक बन गया।

कबीरदास जी ने सीधी सादी बनारसी या पूरबी बोली में ही अपने दोहे या गीत बना कर कहे हैं। उन्होंने अपनी भाषा के सम्बन्ध में और अपनी शिक्षा के विषय में कहा है—

बोली हमारी पूरब की, हमें लखा नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, घर पूरब का होय॥
मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गहीं नहिं हाथ,
चारिहु जुग महात्म तेहि, कहि के जनायो नाथ।

(कबीर बीजक साखी १७७-१८१)

स्वामी रामानन्दजी से दीक्षा लेने के पश्चात् सम्भवतः उन्होंने भी अपने गुरु के सिखाये हुए सिद्धान्तों का ही घूम घूम कर प्रचार करना प्रारम्भ किया। अपनी अक्खड़ प्रकृति के कारण जिस समाज में उन्होंने जो बुराई देखी उसे निश्छल होकर सीधे लट्ठमार शब्दों में कहना प्रारम्भ किया।

उन्होंने एक ओर हिन्दुओं के बढ़ते हुए धर्म के बाह्य आचार की निन्दा की और दूसरी ओर मुसलमानों के धार्मिक सिद्धान्त और आचरण की भिन्नता पर कटु आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि दोनों धर्मों के नेता उनसे बिगड़ खड़े हुए और चारों ओर से उन पर व्यंग्योक्तियों की वर्षा होने लगी। यहाँ तक कि होली पर जो अश्लील गीत गाये जाने लगे उनके 'अररर कबीर' के लक्ष्य भी कबीरदासजी ही थे। किन्तु इतना सब होने पर भी कबीरदासजी अपने मत पर डटे रहे। कहा जाता है कि तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी को यह जानकर बड़ा क्रोध हुआ कि कबीरदास उस समय के प्रसिद्ध और मान्य व्यक्तियों के तथा इस्लाम धर्म के विरुद्ध बड़ा भीषण प्रचार कर रहा है। उसने कबीर साहब को बहुत यातनाएँ भी दीं पर फकीर होने के कारण वे किसी प्रकार बच गये। कहा तो यह जाता है कि सिकन्दर लोदी ने इन्हें गंगा में डाला, अग्नि में झोंका किन्तु वे जल और अग्नि दोनों से बचकर निकल आये। फिर जब उनके ऊपर मस्त हाथी छोड़ा गया तो वह भी इन्हें देखकर भाग खड़ा हुआ। कबीर साहब ने एक शब्द में इसका वर्णन भी किया है।

गंगा गोसाँइनि गहिर गंभीर, जंजिर बाँधकर खरे कबीर।
मन न डिगै तन काहे को डेराई, चरन कमल चित रह्यो समाई।
गंग की लहर मेरी टूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।
कह कबीर कोई संग न साथ, जल थल राखत है रघुनाथ।

(आदि ग्रन्थ, पृष्ठ ६२६)

जान पड़ता है कबीरदासजी के भक्तों ने उनकी यातनाओं को महत्व देने के लिये हिरण्यकशिपु-द्वारा प्रहलाद को दी हुई समस्त यातनाओं का आरोप कबीर के जीवन-वृत्त पर भी कर दिया। अतः इसमें से केवल इतना ही समझ रखना चाहिये कि अपने मत की दृढ़ता के लिये कबीर को तत्कालीन सभी धार्मिक क्षेत्रों से जमकर लोहा लेना पड़ा।

कबीर का अन्त

तुलसीदास जी का एक दोहा है—

मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर।
जँह बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न।

इसके अतिरिक्त भी हिन्दुओं में यह विश्वास है कि काशी में मरने से अवश्य मुक्ति मिलती है क्योंकि अन्त समय में स्वयं भगवान शंकर मुमूर्षु के कानों में तारक मंत्र राम का उपदेश करते हैं। किन्तु कबीर ने अन्त समय में काशी छोड़ दी और काशी की सीमा से बाहर मगहर में चले आये। अपने मगहर आने का कारण उन्होंने स्वयं लिखा है—

लोगा तुमही मति के भोरा
ज्यों पानी पानी में मिलिगो, त्यों ढुरि मिल्यो कबीरा।
ज्यों मैथिल को सच्चा बास, त्योंहि मरण होय मगहर पास॥
मगहर मरै मरनि नहिं पावै, अंत मरै तो राम लजावै।
मगहर मरै सो गदहा होई, भल परतीत राम सों खोई॥
क्या काशी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा॥ (कबीर बीजक, शब्द १०३)

ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीना,
पुरुष जन्म हौं तप का हीना।
अब कहु राम कवन गति मोरी,
तजि ले बनारस मति भई थोरी।
सकल जनम शिवपुरी गंवाया,
मरति बार मगहर उठ धावा।
बहुत बरस तप कीया काशी,
मरन भया मगहर को बासी।
काशी मगहर राम विचारी।
ओछी भगति कैसे उतरै पारी।

कह गुरु गज शिव सम को जानै,
मुआ कबीर रमत श्री रामै।

(आदि ग्रंथ, पृष्ठ १७७)

इससे सिद्ध होता है कि या तो कबीर में आत्म-विश्वास ही उतना अधिक बढ़ गया था जितना परम सिद्धों में स्वभावतः बढ़ जाता है अथवा लोक सिद्धि प्राप्त महापुरुषों में अधिक लोक पूजित होने के कारण असाधारण कार्य करके अपनी महत्ता प्रकट करने की जो अहंकार-प्रेरित वासना उत्पन्न हो जाती है उसी के कारण कबीर ने मगहर जाने का निश्चय किया हो। हरिऔधजी ने मगहर जाने के कारणों का निर्देशन करते हुए यह भी संकेत दिया है कि संभवतः कबीर साहब को किसी घोर धार्मिक विरोधवश काशी छोड़नी पड़ी थी । किन्तु यह बात मानने में इसलिए संकोच होता है कि जिसने लगातार एक सौ बीस वर्षों तक काशी में रहकर संघर्षमय जीवन व्यतीत किया हो वह अन्त समय में घबराकर भाग खड़े होने की बात क्यों सोचेगा। अतः निश्चित बात यही है कि अपने अक्खड़ स्वभाव के कारण तथा अपने महापुरुषोचित आत्मविश्वासपूर्ण हठवाद के कारण वे काशी से उठकर मगहर चले गये और वहीं माघ सुदी एकादशी सं० १५७५ (सन् १५१८) में वे परमात्मा में लीन हो गए ।

यद्यपि कबीर ने जन्म भर हिन्दू और मुसलमानों के आचार धर्म की निन्दा की और उसे ढोंग बताकर वे दोनों जातियों के कोप भाजन भी बने किन्तु अन्त में वे दोनों जातियों के श्रद्धा-भाजन भी अवश्य बन गए थे। क्योंकि जब उनका देहावसान हुआ तब उनके अंतिम संस्कार के लिये दोनों जाति वालों में संघर्ष उठ खड़ा हुआ। काशिराज वीरसिंह और हिन्दू चाहते थे कि उनके शव का विधिवत् दाह संस्कार किया जाय, बिजलीखाँ पठान और मुसलमान चाहते थे कि उन्हें मुसलिम आचार के अनुसार समाधि दी जाय। यह झगड़ा अभी चल ही रहा था कि सहसा शवचैल से ढका हुआ कबीर का शव लुप्त सा जान पड़ने लगा । शवचैल हटाते ही क्या देखा गया

कि वहाँ थोड़े से फूल (शवदाह के पश्चात् बची हुई अस्थियाँ) बच रहे हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने फूल आधे-आधे बाँट लिए। हिन्दुओं ने उन्हीं फूलों को जलाया और उसकी राख काशी में प्रतिष्ठित करके उस पर कबीर चौरे में स्मृति समाधि बनाई, मुसलमानों ने मगहर में ही उनके फूलों पर कब्र बनाई और ये दोनों ही स्थान कबीर पंथियों के तीर्थ बन गए। अन्त समय में शरीर छोड़कर भी उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों का झगड़ा इस प्रकार निबटा दिया। कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीर पंथ की एक अलग शाखा चलाई और दूसरे शिष्य सुरत गोपाल काशीवाली शाखा के उत्तराधिकारी हुए। धीरे-धीरे दोनों शाखाओं में मतभेद हो गया।

कबीर का युग और उनपर युग का प्रभाव

कबीर पर जिन विद्वानों ने गवेषणा की है और जिन्होंने उनके जन्म और मरण के संवतों का लेखा दिया है उनके विचारों को दृष्टि में रखते हुए यह निश्चय है कि सिकन्दर लोदी के राज्यकाल में कबीर ने अपने मत का प्रचार किया। प्रायः सभी मुसलमान शासक अपने धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में इतने रूढ़ और कट्टर रहे हैं कि इस्लाम धर्म के विरुद्ध किसी प्रकार का आक्षेप या विरोध उन्हें सह्य नहीं था। इसका साधारण-सा परिणाम यह हुआ कि भारत के हिन्दू राजाओं के पारस्परिक कलह से जर्जरित और असहनशील मुसलमान शासकों के दुर्दान्त लौह शासन से त्रस्त हिन्दू न तो अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन कर पा रहे थे और न खुलकर स्मार्त, देवी देवताओं की ही पूजा-उपासना खुल कर सकते थे। इससे पूर्व जो अद्वैतवाद के रूप में भारतीय एकेश्वरवाद चला उसके सोहम् और अहम् ब्रह्मास्मि ने एक विचित्र प्रकार की असर्यादित आत्मश्लाघा अकर्मण्यता और उच्छृंखलता समाज में परिव्याप्त कर दी। फिर भी वैदिक परम्परा में चले आते हुए कर्मकाण्ड और बाह्य धर्माचार हिन्दुओं के

संस्कारों में इतने ओत-प्रोत हो गए थे कि जहाँ उनमें एक ओर सात्त्विक निष्ठा थी, वहीं दूसरी ओर घोर पाखण्ड भी था, किन्तु इन दोनों पक्षों के बीच कोई ऐसी निश्चित और सर्वमान्य कसौटी नहीं थी, जिससे सत्य और पाखण्ड की परीक्षा करके उनका नीरक्षीरत्व सिद्ध किया जा सकता। परिणाम यह हुआ कि जौ के साथ घुन भी पिसने लगे। सत्यनिष्ठापूर्ण कर्मकांड को भी लोग सन्देह और उदासीनता के साथ त्याज्य समझने लगे। केवल हिन्दुओं में ही नहीं, मुसलमानों में भी रोजा, नमाज, हलाल, पीरों की पूजा आदि अनेक ऐसे कार्य हो रहे थे, जो हिन्दुओं के तीर्थ, व्रत, देवी-देवताओं की पूजा, छापा, जप और माला इत्यादि के समान धर्म के बाहरी आचार मात्र थे। उपासना की जिस सात्त्विक भूमिका से मनुष्य की सत्वशुद्धि प्रारम्भ होती है, वहाँ बाह्य आचार भी सात्त्विक और शुद्ध रहता है किन्तु जब उसमें प्रदर्शन का तत्त्व आ बैठता है तब उसकी सात्त्विकता भी सन्देहपूर्ण हो जाती है। योग की क्रियाएँ ईश्वर की प्राप्ति के लिये की जाती हैं। किन्तु लोग हठयोग के अनेक आसन केवल पैसा कमाने के लिये भी दिखाते फिरते हैं और ऐसे ही लोग योग से प्राप्य परानुभूति के प्रति लोगों की अश्रद्धा के कारण होते हैं।

जिस युग में कबीर ने जन्म लिया, वह युग जान पड़ता है, अत्यन्त पाखण्ड का युग था अन्यथा कबीर को ऐसी कटु बातें न कहनी पड़तीं जिनसे उन दिनों के हिन्दू और मुसलमान नेता उनसे रुष्ट हो गये। केवल इतना ही नहीं, उस आचारमूलक धर्म के कारण मानसिक शान्ति और सत्य शुद्धि करने के बदले हिन्दू और मुसलमान दोनों ने पारस्परिक वैर और कलह के लिए अखाड़े बना लिये थे जिनमें अज्ञतापूर्ण धर्मान्धता इतनी प्रविष्ट हो गई थी कि उसका निराकरण करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य हो गया। मुसलमानी शासन होने के कारण मुस्लिम आचारों का विरोध करना किसी के लिये सम्भव नहीं था। उल्टे राजा का आश्रय पाकर धर्मान्ध मुल्ला लोग प्रत्यक्ष रूप से हिन्दुओं के धार्मिक आचारों का ही नहीं वरन् उनके देवी-देवताओं का विरोध करते हुए देवस्थान भी नष्ट-भ्रष्ट कर रहे

थे। इसी मदान्धता के प्रतिफल स्वरूप जहाँ-तहाँ हिन्दू भी अवसर पाकर मुसलमानों का विरोध करने से नहीं चूकते थे। परिणाम यह हुआ कि इस वैमनस्य ने भीतर ही भीतर इतना उग्र रूप धारण किया कि राजनीतिक वातावरण के शान्त रहते हुए भी सामाजिक और सर्वजनीन भावना क्षेत्र में भयंकर विक्षोभ फैल गया। इस विक्षोभ ने इतने अविश्वास, द्वेष, ईर्ष्या और प्रतिहिंसा की भावना लोगों के हृदय में भर दी कि पारस्परिक, मानसिक एकता से जो सर्वतोन्मुखी राष्ट्रीय अभ्युदय होना चाहिए, वह न हो पाया और इसीलिए धार्मिक मदान्धता की भीत पर जो राज्य खड़े किये गये, वे स्थिर और निश्चल न हो पाये।

हिन्दुओं में भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि इतने मत और सम्प्रदाय हो गये थे और उन मतों और सम्प्रदायों में भी इतने विलक्षण परस्पर विरोधी आचार स्थिर हो गये थे कि उनके दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षों के संघर्ष से सर्वसाधारण अपना मार्ग नहीं स्थिर कर पा रहे थे, जिससे साधारणतः सब लोग भय के कारण जो देवता सामने उपस्थित किया जाता था उसी के सामने माथा टेक देते थे। शाक्तों में भी वाममार्गी लोग पंचमकार का सेवन करते थे और इतना भयंकर, वीभत्स आचार पालन करते थे कि उनकी ओर से विरक्त होना भारतीय भाव के लिये अत्यन्त स्वाभाविक था। इन सम्पूर्ण धार्मिक, अर्द्ध धार्मिक और अति धार्मिक वातावरण के बीच समन्वय का मार्ग निकालना कठिन ही नहीं असम्भव भी था। क्योंकि यदि सबका लक्ष्य केवल परमात्मा प्राप्ति ही होता, तब तो सम्भवतः समन्वय हो भी जाता, किन्तु प्रत्येक मत के साथ इष्ट-प्राप्ति भी भिन्न हो गयी और अलग-अलग लोकों की कल्पना कर ली गयी अर्थात् साधना के उद्देश्य में भी भिन्नता आ गयी। इसलिए मौलिक एकता के सब द्वार ही बन्द हो गये, फिर भी कबीर ने यह चेष्टा की कि यदि दार्शनिक व्याख्या से इन्हें एक मौलिक सिद्धान्त पर नहीं लाया जा सकता, तो सम्भवतः विरोध करने से ही उनका समाधान हो सकेगा। यह कार्य इतना दुरूह था और प्रत्येक मत के साथ इतना दार्शनिक साहित्य

उत्पन्न हो गया था कि उन सबका अध्ययन करके, उनका खण्डन करके एक नया समन्वयात्मक मत स्थिर करना सम्भव न रहा। इसीलिए किसी पढ़े-लिखे विद्वान् व्यक्ति की इस ओर प्रवृत्ति नहीं हुई। कबीर ने अनपढ़ होने के नाते दार्शनिक पक्ष छोड़ दिया और केवल बाह्याचार को लेकर सब मतों को एक साथ ललकार दिया। कबीर दार्शनिक नहीं थे, इसलिए लोगों ने उनके साथ शास्त्रार्थ करने की आवश्यकता भी नहीं समझी। वे फक्कड़ थे, इसीलिए किसी ने उनके साथ तर्क भी नहीं किया। वे साधु थे और किसी का बुरा नहीं चाहते थे, इसलिए लोगों ने उनकी बातें चुपचाप सुन लीं; बुरा नहीं माना। उसी प्रकार जैसे भले लोग साधुओं के पास जाते हैं और उनकी गालियां भी सुन लेते हैं। वे सन्त थे और उन्होंने साधुओं की संगत की थी इसलिए लोगों को भी उनमें श्रद्धा थी, किन्तु कभी-कभी वे बहुत कटु बात बोलते थे, इसलिए हिन्दू और मुसलिम धर्म के बड़े-बड़े धर्मध्वज उनसे रुष्ट हुए किन्तु वे युग की आवश्यकता पूर्ण कर रहे थे, सम्भवतः अकेले ही।

कबीर के सिद्धान्त

कबीर के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने जो विचार किये हैं वे बहुत कुछ उन्हीं की भाषा में देकर हम आगे विस्तार से उनकी मीमांसा करेंगे। विद्वानों का विचार है कि––

रामानन्द जी से राम नाम की दीक्षा लेने पर भी कबीर के राम रामानन्द जी के राम से भिन्न थे––

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।

राम से उनका अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म मे है। वे सदैव 'निर्गुण राम' जपने का ही लोगों को उपदेश देते थे। उनकी 'राम भावना' को लोग भ्रमवश मुसलमानी एकेश्वरवाद का पर्याय समझ लेते हैं किन्तु उनकी "राम भावना" भारतीय ब्रह्मवाद से बहुत मिलती है। वे कहते हैं––

खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।

ध्यान देने पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उनके 'राम' सगुण और निर्गुण दोनों से परे हैं--

'अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा।'

कबीर ने कभी दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था, इसी कारण उन्हें ब्रह्म, राम, और रहीम में कोई अन्तर नहीं दिखलाई देता और वे उस परम सत्ता के लिए राम, रहीम, अल्ला, सत्य, नाम, गोव्यंद, साहब कोई भी नाम प्रयुक्त कर देते हैं क्योंकि उनके विचार से उस अपरंपार सत्ता के अनन्त नाम हैं।

भौतिकवाद से रहित भारतीय ब्रह्मवाद को ग्रहण करने वाले कबीर पर जीवात्मा, परमात्मा और जड़-जगत् तीनों से भिन्न सत्ता मानने वाले भौतिकवाद से युक्त एकेश्वरवाद का प्रभाव नहीं पड़ा। वे चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानते थे। आत्मा और जड़-जगत् अन्त में उसी परमात्मा में विलीन हो जाता है। संसार में चारों ओर उन्हें ब्रह्म ही दिखलाई पड़ता है। उनकी रचना में स्थान-स्थान पर इसी आत्मवाद की झलक दिखलाई पड़ती है।

पाणी ही ते हिम भया, हिम है गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ॥

जिस प्रकार छोटे से बीज के अन्दर बड़ा विशाल वृक्ष अंतर्हित रहता है उसी प्रकार बीज रूप ब्रह्म के अन्दर नामरूपात्मक जगत् निहित रहता है जिसे इच्छा होने पर ब्रह्म जब चाहता है तब विस्तार करता है और अन्त में अपने में समेट लेता है--

ब्रह्मवादियों की यही भावना कबीर के वचनों में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है--

इनमैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भांड़े रूप धरे धरि मेलै॥

वेदांत के प्रतिबिंबवाद, जिसके अनुसार ब्रह्म बिंब हैं और नाम रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिविंब, की झलक इनकी वाणी में यत्र-तत्र दिखलायी पड़ती हैं:——

खंडित मूल बिनास, कहौ किम विगहत कीजै।
ज्यूँ जल मैं प्रतिब्यंब, त्यों सकल रामहिं जाणीजै॥

वेदान्त के कनक-कुंडल न्याय के अनुसार जिस प्रकार कुंडल सोने से बनता है और अन्त में पिघलाये जाने पर वह सोना हो जाता है उसी प्रकार इस नाम रूपात्मक दश्यों की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और अन्त में सब उसी में समा जाते हैं।

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि मांहि समायहिंगे॥

वेदांत के अनुसार कबीर मानते हैं कि वही ब्रह्म सत्य है और जो कुछ दिखलाई पड़ता है वह असत्य है, केवल मायात्मक भ्रान्ति ज्ञान है। कबीर अपनी वाणी में इस बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

संसार ऐसा सुपिन जैसा जीव न सुपिन समान।

कबीर ने अपनी वाणी में स्पष्ट कहा है कि संसार को सत्य समझने वाला प्राणी माया के बंधन में पड़कर दुःख भोगता है। संसार के मोह में पड़े हुए व्यक्ति के ऊपर माया का आवरण पड़ जाता है, उसके चारों ओर अज्ञानांधकार छा जाता है, जिसके फलस्वरूप वह सुखों के मूल परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पाता।

उस अज्ञानी मनुष्य को मायापूर्ण संसार सुखद प्रतीत होता है। माया ही विषय-वासनाओं को जन्म दे, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर के द्वारा मनुष्य को पतन की ओर उन्मुख करती है।

पग-पग पर माया के द्वारा कष्ट पाने पर भी अज्ञानी मनुष्य माया को त्यागना नहीं चाहता और प्रतिक्षण वह उस परम सत्ता से दूर होता जाता है। जिस प्रकार काई लग जाने से दर्पण की आभा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्मा रूपी दर्पण पर माया रूपी काई के जम जाने पर आत्मा को आत्मज्ञान दुर्लभ हो जाता है।

कबीर में अद्वैतवाद की पूरी झलक दिखलाई पड़ती है किन्तु इसे हम शुद्धाद्वैत नहीं मान सकते क्योंकि शुद्धाद्वैत में माया ब्रह्म की ही शक्ति मानी जाती है परन्तु कबीर ने माया को मिथ्या या भ्रम मात्र माना है जिसका कारण अज्ञान है। कबीर का यह अद्वैत शंकर के अद्वैत से मिलता है।

दरपन को हरि भक्ति के द्वारा स्वच्छ करके जब साधक ब्रह्म का अनुभव करता है उस समय वह सुख-दुःख से परे ब्रह्ममय होकर अमर हो जाता है।

भक्ति ही से मायाकृत अज्ञान दूर होता है और ज्ञानप्राप्ति के द्वारा अपने पराए का भेद मिटता है।

उचित चेति

यह कहना उचित होगा कि ज्ञानियों की ब्रह्म जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष बातों को लेकर कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया।

ज्ञान मार्ग के अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म शुष्क चिन्तन का विषय था किन्तु कबीर की भक्ति में के योग से उसमें प्रेमपूर्ण चिन्तन को भी स्थान मिला।

व्यक्तिगत साधना के द्वारा उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर साधक अमर हो जाता है। उस चिरस्थायी सत्ता का सामीप्य पाकर आत्मा अमर हो जाती है। ऐसा ही अमरत्व प्राप्त करके कबीर कहते हैं:—

हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं,
हरि न मरै हम काहे कुँ मरिहैं।

जब मनुष्य आत्मोत्सर्ग की इस चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वह प्रेम उसके लिए अमृत हो जाता है।

हरिरस

यह परमानन्द की अवस्था है जहां ब्रह्म का साक्षात्कार कर साधक चारों ओर उसी ब्रह्म की ही झलक देखता है।

तूं तूं

इस स्वर्गीय प्रेम को प्राप्त करके साधक का प्रेम मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहता, किन्तु सृष्टि के सभी जीव जंतु उसकी सीमा के अन्दर आ जाते हैं। क्योंकि "सभी जीव सांई के प्यारे" इसी कारण कबीर कहते हैं:—

कहै कबीर एक राम जपुहु रे, हिन्दू तुरक न कोई!

कबीर के इस प्रेमपूर्ण चिन्तन को हम पारमार्थिक और ऐहिक इन दो पक्षों में विभाजित कर सकते हैं।

कबीर का यह प्रेम तत्व सूफियों की देन है। किन्तु उस प्रेम तत्व को उन्होंने भारतीय ढांचे में ढाल लिया है। इसलाम के पश्चात् सूफी फकीर को चारों ओर परमात्मा रूपी प्रियतमा के दर्शन होने लगते हैं। किन्तु आत्मोत्सर्ग के पश्चात् ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर और उस अमर प्रेम का अनुभव करने पर कबीर को चारों ओर परमात्मा रूपी प्रियतम दृष्टि-गोचर होते हैं। सूफी लोग परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं और कबीरदास ने ब्रह्म को प्रियतम के रूप में देखा जो भारतीय माधुर्य भाव के सर्वथा मेल में है।

निर्गुणवाद और सगुणवाद की एकेश्वरवादी बाहरी समता रखने वाली बातों के सम्मिश्रण और उसके साथ प्रेम तत्व के योग से कबीर की भक्ति का निर्माण हुआ, किन्तु वे सदैव निष्काम भक्ति का ही उपदेश देते रहे।

अवतारवाद और मूर्ति पूजा के विरोधी होते हुए भी कबीर हिन्दुओं के जन्म-मरण सम्बन्धी सिद्धांत तथा पूर्व जन्म में किये गये पाप और पुण्य को अगले जन्म में भोगने पर विश्वास करते थे।

भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के साधनात्मक रहस्यवाद को तो कबीर ने अपनाया ही और साथ-साथ समय के अनुकूल जान हठ-योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद को भी अपनाया।

मुसलमानों के देश में बस जाने के कारण और हिन्दू जनता में नैराश्य का साम्राज्य फैल जाने के कारण सगुण भक्ति की ओर जनता को अग्रसर करना कठिन था। और दूसरी ओर हठयोगी अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैला कर घर के भीतर कोठों की बातें बतला चुके थे। इस कारण उन्होंने उनके साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे चंद, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे जिसके फलस्वरूप सामान्य जनता पर उनका पूरा आतंक जम गया।

मुसलमानों की हिंसा वृत्ति रोकने के लिए उन्होंने वैष्णवों के अहिंसा तत्व को ग्रहण किया और मुसलमानों को खूब फटकारा।

जिस सत्य को कबीर धर्म मानते हैं, वह सत्य सब धर्मों के मूल में है। किन्तु सत्य की खोज में निकलने वाला मानव इस परम सत्य को मिथ्या विश्वास तथा पाखंड से परिच्छिन्न कर देता है। इस बाहरी आडम्बर को नष्ट कर देने पर धर्म भेदजनित वैमनस्य स्वयं विलीन हो जाता है। उस परम सत्य के आलोक के समीप धार्मिक सांप्रदायिकता क्षण भर में अन्धकार के समान नष्ट हो जाती है। हिन्दू मुसलमानों को प्रेमसूत्र में बाँधने के लिए उस सत्य के अधिकारी कबीर उसी अमर सत्य के उपदेश में रत रहते थे। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के साथ-साथ

उसकी पुष्टि के लिए अनेक स्थानों पर लौकिक आचरण तथा व्यवहारों का वर्णन किया है। उनकी साखियों का विशेष सम्बन्ध लौकिक आचरणों से है तथा पदों का सम्बन्ध विशेषकर धार्मिक सिद्धांतों तथा अंशत: लौकिक आचरण से है।

परम सत्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम मन को दासता की शृंखला से मुक्त करना आवश्यक है। बाह्य आडम्बरों से शृंखलाएँ परस्पर अधिक जटिल होती जाती हैं, इस कारण अंध विश्वासों में फँस कर हीन जीवन व्यतीत करने वाले प्राणियों को मुक्त करने के लिए उन्होंने हिन्दू मुसलमानों के बाह्याडम्बरों का घोर विरोध किया है। बहुदेवोपासना, अवतार, मूर्तिपूजा, हिन्दुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मन्दिर आदि का विरोध मुसलमानी जोश के साथ किया है और मुसलमानों की कुरबानी, नमाज, रोजा, हज, ताजिएदारी की असारता दिखलाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहद नाद, सृष्टि प्रलय आदि की चर्चा पूरा हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर की है। सारांश यह कि ईश्वर पूजा को उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटा कर, जिनके कारण धर्म में भेद-भाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे। उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बंधन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट कह दिया कि मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान।

मुसलमानों को फटकारते हुए कहते हैं—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।।
बकरी पाती खाति है, ताकि काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल।।

साथ ही साथ हिन्दुओं से कहते हैं—

मूड़ मुड़ाए हरि मिलें, सब कोउ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय।।

धार्मिक सुधार और समाज सुधार का घनिष्ट सम्बन्ध है। धर्म सुधारक को समाज-सुधारक होना ही पड़ता है। कबीर ने भी समाज सुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया। हिन्दुओं की जाति-पाँति, छूआछूत, खान-पान आदि के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने चुभती भाषा में विरोध किया है और इनके विषय में हिन्दू मुसलमान दोनों की जी-भर कर धूल उड़ाई है।

एकै पवन एक ही पांणीं, करी रसोई न्यारी जानीं।
माटी सूँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धूँ छोती॥
धरती लीपि पवित्तर कीन्हीं, छोति उपाय भीक बिचि दीन्हीं।
याका हम सूँ कहो बिचारा, क्यूँ भव तिरिहो रहि आचारा॥

छूआछूत का उन्होंने इन शब्दों में खंडन किया है:—

काहे कौं कीजै पांडे छोति विचारा, छोतिहि ते उपना सूद।
हमारैं कैसैं लोहू तुम्हारे कैसे दूध,तुम्ह कैसैं ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद॥
छोति छोति करता तुम्हहिं जाए, तौ ग्रभवास काहे कौ आए।
जनमत छोति मरत ही छोति, कहै कबीर हरि की निर्मल जोति॥

जन्म से ही कोई द्विज या शूद्र अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं हो सकता। इसको कबीर ने कितने सीधे किन्तु मन में जमने वाले ढंग से कहा है।

जौ तूँ बाँमन बँमनी जाया, तौं आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।
जौ तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतर खतना क्यों न कराया॥

उच्चता और नीचता का सम्बन्ध उन्होंने व्यवसाय के साथ नहीं जोड़ा है, क्योंकि कोई व्यवसाय नीच नहीं है। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो हाथ पाँव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार

बन कर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए वे अपने ही हाथों का आसरा रखते थे। कबीर रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्मा की सारी प्रवृत्तियाँ इसी शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाता है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाता ह कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन। इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है। उस एकांत सत्य से, उस दिव्य शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है। उस प्रेम में चञ्चलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती। वह प्रेम अमर होता है। ऐसे प्रेम में जीव की सम्पूर्ण इन्द्रियों का एकीकरण हो जाता है। समस्त इन्द्रियों से एक स्वर निकलता है और उनमें अपने प्रेम की वस्तु पाने की लालसा समान रूप से होने लगती है। इन्द्रियाँ अपने आराध्य के प्रेम को पाने के लिए उत्सुक हो जाती हैं और उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि वे उसके विविध गुणों का ग्रहण समान रूप से करती हैं। अन्त में वह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद में वस्तुओं के विविध गुण पाने की क्षमता एक ही इन्द्रिय प्राप्त कर लेती है।

हम रहस्यवादियों की उद्देश्य प्राप्ति में तीन परिस्थितियों की कल्पना

कर सकते हैं। पहली परिस्थिति तो वह है, जहाँ वह व्यक्ति विशेष अनंत शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। द्वितीय स्थिति तब आती है जब आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाता है। भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मा में एक प्रकार का उन्माद छा जाता है। आत्मा मानो प्रकृति का रूप रखकर पुरुष से प्रेम करता है। इसके पश्चात् तीसरी स्थिति आती है जो रहस्यवाद की चरम सीमा कहलाती है। इस दशा में आत्मा और परमात्मा का इतना एकीकरण हो जाता है कि फिर उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती।

इस अद्वैतवाद का प्रतिपादन सबसे पहले उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् भारतीय ज्ञानकांड के मूल हैं। प्राचीन ऋषि तत्व-चिन्तन द्वारा ही अद्वैतवाद के सिद्धांत पर पहुँचे थे? उनमें इस ज्ञान का उदय बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा हुआ था, प्रेमोन्माद या बेहोशी की दशा में सहसा एक दिव्य आभास या इलहाम के रूप में नहीं। प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। जगत् और उसके मूल कारण का चिन्तन करते-करते जिस तथ्य तक वे पहुँचते थे, उसकी व्यञ्जना अनेक प्रकार से वे करते थे। गम्भीर मार्मिक तथ्य पर पहुँचने पर, कभी-कभी भावोन्मेष हो जाता था और वे अपनी उक्ति का प्रकाश रहस्यात्मक और अनूठे ढंग से कर देते थे। वह ज्ञान क्षेत्र की वस्तु है। जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भाव-क्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।

आर्य जाति (भारतीय और यूनान) के तत्व-चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को सामी पैगम्बरी मतों में रहस्य भावना के भीतर स्थान मिला। भारतवर्ष में तो यह ज्ञान क्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञान क्षेत्र में ही रहा; पर अरब और फारस आदि में जाकर भाव-क्षेत्र के बीच यह मनोहर रहस्य भावना के रूप में फैला। रहस्योन्मुख सूफियों

और पुराने कैथलिक ईसाई भक्तों की साधना समान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत रही।

कबीर में ज्ञान का जो अवयव है वह भारतीय वेदांत का है, पर प्रेम तत्व बिल्कुल सूफियों का है। कबीर में माधुर्य भाव स्थान-स्थान पर पाया जाता है। वे कहते हैं:—

हरि मोर पिय, मैं राम की बहुरिया।

"राम की बहुरिया" कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रगट करती है:—

मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पिय जाय?
समुझि सोचि पग धरौं जतन से, बार बार डगि जाय।।
ऊँचा गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।।

और कभी वह विरह-दुःख निवेदन करती है।

अपनी लगन से जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो गये हैं उन्होंने जब-जब अपनी अनुभूति का निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब-तब अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूंगे का-सा गुड़ है।

(क) अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाय।
गूँगे केरी सरकरा, बैठा ही मुसकाय।।

(ख) तजि बावैं दाहिने विकार, हरि पद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गुँगै गुड़ खाया, बूझै तो का कहिए।।

यही रहस्यवाद का मूल है।

परमात्मा को पिता, माता, प्रिया, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना रहस्यवाद ही है, क्योंकि लौकिक अर्थ में परमात्मा इसमें से कुछ भी नहीं है।

परमात्मा के पितृत्व की भावना बहुत प्राचीन काल से वेदों में मिलती है। वेदों में परमात्मा को माता भी कहा गया है। बहुत पीछे के ईसाई ईश्वरवाद में परमात्मा के पितृत्व और प्राणियों के मातृत्व की यही भावना पाई जाती है।

कबीर में भी यही भावना मिलती है:—

"बाप राम राया अब हूं सरन तिहारी।"

उन्होंने परमात्मा को माँ भी कहा है:—

"हरि जननी मैं बालक तोरा।"

परन्तु भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद-मूलक होने में है जो भारतीयों की ब्रह्म जिज्ञासा का फल है। उपनिषदों का और गीता का रहस्यवाद यही रहस्यवाद है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। सर्वात्मवादी कवि के रहस्योद्भावी मानस में संसार उसी रूप में प्रतिबिंबित नहीं होता, जिस रूप में साधारण मनुष्य उसे देखता है। वह परमात्मा के साथ संपूर्ण सृष्टि का अखंड सम्बन्ध देखता है विश्व के कण-कण में वह उस परमसत्ता के सौंदर्य का अवलोकन करता और सब ध्वनियों में उस प्रियतम की मधुर वाणी सुनता है। अन्य रहस्यवादी भावनाओं के होते हुए कबीर में प्रधानता इसी रहस्यवाद की है।

सर्वात्मवाद-मूलक रहस्यवाद में माधुर्य भाव का उदय हुआ। कबीर में यह रहस्यवाद स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ता है।

"सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा"

राम की प्रेयसी सर्व प्रथम अपना प्रेम निवेदन करती है:—

गोकुल नायक बीठुला मेरै, मन लागौ तोहिरे

फिर वह जीवात्मा वियोगिन के रूप में प्रगट होता है:—

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करौं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥

राम की वियोगिन व्याकुलता के साथ अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करती है।

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ ॥

ज्यों-ज्यों जीवात्मा को अपनी पारमात्मिकता का अनुभव होता जाता है, त्यों-त्यों उसका भय जाता रहता है।

अब तोहि जान न दैहूं रामपियारे, ज्यूँ भावै त्यूँ होहु हमारे ॥

अन्त में जीवात्मा को कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना पड़ा। उसको प्रियतम स्वयं हृदय के ही अन्दर प्राप्त हो गया:—

बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े धरि बैठे आए।

अन्त में जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता। कबीर कहते हैं:—

हम सब माँहि सकल हम माँहि।
हम थैं और दूसरा नाँहि ॥
मो को कहाँ ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबै कैलास में ॥

कुछ विद्वानों का कथन है कि कबीर का रहस्यवाद रूखा है। किंतु ऐसा कहना उनके साथ अन्याय है। विवाह के अनेक दृश्यों का वर्णन उनके रहस्यवाद में दिखलाई पड़ता है। उनका रहस्यवाद माधुर्य भाव में ही समाप्त नहीं हुआ है, किन्तु प्रकृति के चुने-चुने चित्र उनकी उक्तियों में स्वयं आकर उपस्थित हो गये हैं। कबीर कहते हैं:—

काहे री नलिनी, तू कुमिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी।।
जल में उतपति जल में बास,
जल में नलिनी तोर निवास।।
ना तल तपति न ऊपर आगि,
तोर हेत कहु कासनि लागि।।
कहै कबीर जे उदिक समान,
ते नहि मुए हमारे जान।।

प्रकृति का प्रतिनिधि मनुष्य नलिनी है, जल ब्रह्म तत्व है। इसी में प्रकृति के नाना रूपों को उत्पत्ति होती है, यही पोषक तत्व है जो मनुष्य और नाना रूपों में विद्यमान है।

सांसारिक जीवन की नश्वरता का कितना प्रभावशाली आभास नीचे के दोहे में है:—

मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार,
फूले फूले चुणि लिए कालिह हमारी बार।।

कबीर को चमत्कारपूर्ण उलटबासियाँ भी रहस्यपूर्ण हैं। कठोपनिषद् के अनुसार मनुष्य का शरीर रथ है, जिसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हैं, घोड़ों पर मन की लगाम लगी हुई है जो सारथि रूपी बुद्धि के हाथ में है। 'परम पद' का पथिक आत्मा इस रथ पर सवार है, उसकी इच्छा के अनुसार उसका परिचालन होना चाहिए। शरीर सेवक है आत्मा स्वामी। परन्तु जब स्वामी सो जाय, सारथि किंकर्तव्य-विमुढ़ हो जाय और घोड़ों को लगाम निरुद्देश्य ढोली पड़ जाय तब यह क्रम उलट जाता है; स्वामी का स्थान सेवक ले लेता है। रथ के अधीन होकर स्वामी भटकता फिरता है और प्रायः ऐसा होता है कि घोड़ों के मनमाने आचरण से रथ और स्वामी दोनों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते

हैं। भव-जाल में पड़े हुए मनुष्यों की इसी उलटी अवस्था को विशेष कर कबीर ने अपनी उलटवासियों द्वारा व्यंजित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है।

ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापिण गिली, यहु अचरज भाई॥

यद्यपि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिसमें उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कृत बातें निकलती थीं। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था:—

जैसे:—"नैया बिच नदिया डूबति जाय।"

इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे चंद, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, औंधा कुआं' को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं, जैसे:—

सूर समाना चंद में दहूं किया घर एक।
मन का चिन्ता तब भया कछू पुरबिला लेख॥
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि॥

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें की हैं, जो नयी न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण, अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं।

कबीर के काव्य के विषय में बहुत कुछ बातें उनके रहस्यवाद के अन्तर्गत आ चुकी हैं। कबीर संत थे। ज्ञान की खोज में ही उनका संपूर्ण जीवन व्यतीत हुआ। उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था। वे ब्रह्म-

मय होकर संसार से बहुत ऊँचे उठ गये थे। सांसारिक आकर्षण उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ था। उन्होंने कविता के लिए कविता नहीं की थी। वे निरन्तर सत्य की खोज में आगे बढ़े। संसार की माया रूपी मृग-मरीचिका से व्याकुल प्राणियों को सन्मार्ग दिखलाने के लिए उन्होंने जो वाणी कही, वही कविता के रूप में हमारे सामने है। उन्हें पांडित्य प्रदर्शन की इच्छा थी, न आचार्य बनने की अभिलाषा थी और न राजसभाओं में खड़े होकर अपनी चुटीली उक्तियों के द्वारा वाह-वाह लूट कर धनोपार्जन की इच्छा थी। उनकी एकमात्र अभिलाषा थी---पथ-भ्रष्ट को मार्ग दिखलाने की और मानव मात्र के हृदय में परस्पर प्रेम भाव उत्पन्न कर वास्तविक सत्य का ज्ञान करा कर उस परम सत्ता में अपने को विलीन कर देने की।

जिस समय वे ब्रह्मानन्द में लीन हो कर कह उठते थे:--

हरि रस पीया जानिए, कबहुँ न जाय खुमार।
मैं मन्ता घूमत रहे, नाहीं तन की सार॥

अथवा जब वे क्षुब्ध होकर हिन्दू मुसलमानों को फटकारते थ, उस समय उनकी उक्तियाँ काव्य के अन्तर्गत आती हैं। उनकी प्रतिभा हृदय-समन्वित थी और उनके शब्दों में वह बल था, जो स्वतः लोगों के ऊपर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। अक्खड़ ढंग से कही हुई उनकी खरी बातों में इतनी मिठास है कि लोग उन्हें कहावतों के रूप में आज भी प्रयुक्त करते हैं। उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गयी है वह अत्यन्त भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़-तोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। केशव, बिहारी के समान दूर की सूझ इनकी वाणी में नहीं है, किन्तु अर्थ की जटिलता के लिए उनकी उलटवासियाँ केशव की शब्द माया को मात करती हैं। रात दिन आँखों में आने वाले

प्रकृति के सामान्य व्यापारों के उलटे व्यवहार उनकी वाणी से स्वतः प्रकट हो जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी बहुत सी ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें कविता के दर्शन नहीं होते किन्तु इसके लिए वे दोषी नहीं ठहरते।

वाङ्मय को कोरा शास्त्र का विषय मानकर काव्य के अन्तर्गत भी लेना पड़ेगा।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि का ऊँचा था।

ज्ञान मार्ग के पथिक कबीर ने अपनी उक्तियों को न तो अलंकारों के चमकते आवरण से ढका और न मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के द्वारा कविता को पहेली बनाया। भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडंबरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतंत्रता नहीं मिलेगी तो और कहीं नहीं मिल सकती।

इन गुणों के अतिरिक्त उनकी कविता में कुछ दोष भी दिखलाई पड़ते हैं। (१) एक ही बात को उन्होंने कई बार दुहराया है जिससे कहीं कहीं रोचकता जाती रहती है।

२. उनके ज्ञानीपन की शुष्कता का प्रतिबिंब उनकी भाषा पर अक्खड़पन होकर पड़ा।

३. उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है जिसको कविता की श्रेणी में नहीं लाया जा सकता।

४. उनकी कविता में साहित्यिकता का सर्वथा अभाव है।

५. उनकी भाषा परिमार्जित नहीं है। और न उनके पद्य पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुकूल हैं।

संत कबीर सदा डफली बजा कर गाते थे। गाते समय जो शब्द जैसा निकल जाता था, मात्राएँ कम या अधिक हो जाती थीं उन्हें ठीक करने की चिन्ता उन्हें नहीं थी। इसी कारण उनके दोहे भी पिंगल शास्त्र के नियम पर ठीक नहीं उतरते। वे ईश्वर का संदेश लेकर आए थे,

लोगों का मनोरंजन करने नहीं। ज्ञानोपदेश के अतिरिक्त उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं थी। उनमें प्रतिभा थी, मौलिकता थी और उनकी वाणी लोगों के हृदय में घर कर लेती थी।

कबीर की कविता पढ़ने के पश्चात् भाषा का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि उन्होंने स्वयं एक स्थान पर कहा है "मेरी बोली पूरबी" और यह उचित भी है क्योंकि वे काशी में ही आजीवन रहे किन्तु काव्य का अध्ययन करने पर उनकी उक्तियों में खड़ी बोली, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी का पुट यत्र तत्र मिलता है। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक चिन्ह हैं जो वाक्य-विन्यास की विशेषताओं के लिए उत्तरदायी होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं क्रियापद कारक चिन्हादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रिया पदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिन्हों में से,कै, सन, आदि अवधी के हैं, को ब्रज का और कैं राजस्थानी का है। कहीं-कहीं बिहारी और मैथिली की भी झलक दिखलाई पड़ती है।

> कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
> राम कहे भला होइगा, नहितर भला होइ॥

इस दोहे में शुद्ध खड़ी बोली दिखलाई पड़ती है। 'जब लगि धसै न आभ" 'धसै' ब्रजभाषा का है और 'आभ' फारसी के आब का बिगड़ा रूप है।

> आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥

इस दोहे में आँखड़ियाँ जीभड़ियाँ रूप पंजाबी का और पड्या राजस्थानी का है। "रलि गया आटे लूण" मुहावरा पंजाबी का है। 'ससिहर' आदि शुद्ध अपभ्रंश के भी कई शब्दों का कबीर ने प्रयोग किया है। अपभ्रंश में संस्कृत के क का ग हो जाता है जैसे प्रकट का प्रगट। कबीर

ने मनमाने ढंग से ऐसे परिवर्तन किए हैं जैसे उपगारी और कहीं फारसी अरबी शब्दों की भरमार है —

जैसे हम रकत रहबरहु समाँ, मैं खुर्दा सुमाँ बिसियार।
हम जिमीं आसमान खलिक, गुंद मुसकिल हार॥

कबीर मधुकरी वृत्ति के जीव थे। उन्हें जहाँ कहीं अपनी रुचि का कुछ मिलता था उसे ग्रहण कर अपनी रुचि के अनुसार जनता के सामने प्रकट करते थे। उन्होंने अनेक साधु महात्माओं का सत्संग किया और वे बहुश्रुत थे। इस कारण उनकी रचना में अनेक भाषाओं के शब्द आ जाना स्वाभाविक है।

कुछ लोगों का कथन है कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। उनके शिष्य उनके मुख से निकली हुई वाणी का संग्रह किया करते थे और बहुत सम्भव है वे अपनी इच्छा के अनुसार उसे लिखा करते हों।

कबीर की रचना में पञ्जाबी शब्दों के बाहुल्य का कारण कुछ लोग ग्रन्थ साहब के चयन को बतलाते हैं। ग्रन्थ साहब का चयन पञ्जाब में हुआ था और उसमें संग्रहीत कबीर के पदों में पञ्जाबीपन आ जाना स्वाभाविक है।

साथ ही साथ भाषा के क्षेत्र में कबीर नाथ-पन्थ से प्रभावित थे। इस कारण इनकी रचना में राजस्थानी और पञ्जाबी मिश्रित खड़ी बोली का होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

गोरखनाथ के पहले भी जिस अपभ्रंश भाषा को भारत की प्रचलित राष्ट्रभाषा का महत्त्व मिला था वह भी मूलतः उसी प्रदेश की भाषा थी जो राजपूतों के उत्थान के साथ चारों ओर फैल पड़ी। इसी कारण उसका प्रयोग इनकी भाषा में हुआ है।

इनकी साखियों की भाषा शब्दों की भाषा से भिन्न है। गीत अधिकांश रूप से ब्रजभाषा में लिखे जाते थे और कबीर ने भी उसी प्रथा

का अनुसरण किया। साखियों में जहाँ सिद्धान्त प्रचार और आतंक जमाने की चिन्ता रहती थी वहाँ पदों में भावमग्न होने और औरों के चित्त रमाने की।

कबीर बाहरी प्रभावों के शिकार हुए। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती। यह भी सम्भव है कि उन्होंने जानबूझ कर अनेक प्रान्त के शब्दों का प्रयोग किया हो अथवा शब्द भण्डार की कमी के कारण जब जिस भाषा का शब्द सुना उन्होंने अपनी कविता में प्रयोग कर लिया। कबीर ने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा भी बहुत है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा में अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता या प्रसाद का सर्वथा अभाव है। कहीं - कहीं इनकी भाषा बिलकुल गँवारू लगती है। पर उनकी बातों में खरेपन की मिठास है जो उन्हीं की विशेषता है और उसके सामने यह गँवारूपन नष्ट हो जाता है।

कबीर की वाणी से सामान्य जनता का इतना हित तो अवश्य हुआ कि उनमें आचार विचार की अच्छी भावना उत्पन्न हुई और उनका जीवन सुधर गया। देश में बढ़ता हुआ पाखण्ड कम हो चला और निराश होती हुई जनता को एक सहारा मिला।

अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इनका बड़ा उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर दे और आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। कबीर की वाणी वह सजीवता न ला सकी जिसे आगे चलकर सूर और तुलसी ने प्रदान किया।

कबीर का काव्य मुक्तक क्षेत्र के अन्तर्गत है। उसी में उन्होंने कुछ ज्ञान पर कहा, कुछ नीति पर। नीति काव्य की सफलता की कसौटी उसकी

सर्वप्रियता है। रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत स्थानों पर थिगली-सा लगता है। कबीर के रहस्यवाद से हिन्दी साहित्य में शुद्ध रहस्यवाद का प्रचार हुआ है।

प्रभाव से यदि श्रेष्ठता मानें तो तुलसी के बाद कबीर ही का नाम आता है, क्योंकि तुलसी को छोड़कर हिन्दी भाषी जनता पर कबीर के समान या उनसे अधिक प्रभाव किसी कवि का नहीं पड़ा।

क्या कबीर रहस्यवादी थे ?

यह संसार जिसमें न जाने कितने सौर मण्डल और उन सौर मण्डलों के आकर्षण से परिबद्ध न जाने कितने करोड़ों लोकों वाली यह सृष्टि किस अलौकिक शक्ति ने उत्पन्न की ? उसका स्वरूप क्या है ? उसके लक्षण क्या हैं ? उसकी क्रिया किस प्रकार होती है ? यह एक विचित्र रहस्य है।

वेद में "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमाम्" कहकर भी इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि ने उस 'सः हिरण्यगर्भ' को ठीक न जानने के कारण ही और उसका पूरा विवरण न दे सकने के कारण उस रहस्य की अभिव्यक्ति यही कह कर की—'कस्मै देवाय हविषा विधेम'।

उस परम शक्ति, परम ज्योति, परम ज्ञान और परमात्मा की जिज्ञासा, बुद्धि मिलने के साथ ही मानव मस्तिष्क में अंकुरित हुई, किन्तु विश्व भर के नास्तिक और आस्तिक दर्शनों की विशाल भीड़ में भी वह अनिर्वचनीय ही बना रहा। अनेक साधकों ने उसे जानने के लिए बहुत प्रयास किया और इस प्रयास में बहुतों को सफलता भी मिली किन्तु सफलता प्राप्त होने पर भी मन और वाणी की पहुँच उस तक न हो पाई। इसलिए गूँगे के गुड़ के समान

कोई उसका ठीक-ठीक परिचय न दे पाया, इसके दो कारण हो सकते हैं। परिचय देने में शब्दों की असमर्थता और दूसरे उस परमात्मा की इतनी विराटता कि वह शब्दों की परिधि में समा ही न सके, किन्तु इतना होने पर भी साधकों को यह स्वाभाविक प्रलोभन हुआ कि हमने अपने सफल या असफल प्रयत्न में जो अनुभव किये हैं वे दूसरों के लिए सुलभ कर सकें। इसी स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति से उस रहस्य का जो कथन या वाद किया गया, वही रहस्यवाद कहलाया, अर्थात्—परम प्रिय से मिलने के प्रयत्न की सफलता या असफलता का जो वर्णन करके साधक उस प्रिय के स्वरूप, उस प्रिय को प्राप्त करने के मार्ग और साधन, उस प्रिय को प्राप्त करने के प्रयत्न में पड़ने वाले कष्ट अथवा उस प्रिय को प्राप्त कर चुकने पर अपने आनन्द और उसे प्राप्त करके फिर खो देने पर उसके विरह में अपनी छटपटाहट का विवरण देते हैं, वही रहस्यवाद है।

कबीर की रचनाओं में जिस प्रकार का रहस्यवाद दिखलाई पड़ता है, वह साधना का परिणाम नहीं है, क्योंकि कबीर साधक नहीं थे, साधु थे। अनेक सन्तों, योगियों और साधुओं के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति के प्रयत्न और प्रयत्न करने वालों के अनुभवों की जो गाथाएँ सुनी थीं और जो विवरण प्राप्त किये थे, उन्हीं को स्थान-स्थान पर वे भी दुहरा देते थे। गुरु-ग्रन्थ साहब में जिन अनेक सन्तों की वाणियों का संग्रह किया गया है, उन्हें पढ़ने से ज्ञात होगा कि उस समय के प्रायः सभी सन्तों ने साधना के सम्बन्ध में एक-सी-ही बातें कहीं, इसलिए यह निश्चय है कि जिन हठयोग की क्रियाओं की उन्होंने बहुत चर्चा की है, वे केवल सुनी सुनाई हों। व्यक्तिगत साधना से उनका कोई सम्पर्क नहीं।

एक और भी बात है। कबीर ने कहा है—

"मसि कागद हम छुयौ नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ।"

ऐसे अपढ़ व्यक्ति ने स्वयं कुछ लिखा होगा, यह असम्भव है। किन्तु

कहा होगा, यह बहुत सम्भव है। परन्तु उन्होंने क्या कहा होगा। और लिखने वाले ने क्या लिखा होगा और इससे अधिक, उनके भक्त शिष्यों ने उनके नाम पर न जाने कितनी रचनाएँ गुरु-दक्षिणा के रूप में जोड़ दी होंगी यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में एक बात यह तो निश्चय है कि कबीर के नाम से जितना साहित्य मिलता है, वह सब अप्रामाणिक है, किन्तु अप्रामाणिक होते हुए भी उनके सम्प्रदाय वाले प्रारम्भ से ही उनका आदर करते रहे हैं इसलिए उन वाणियों के वास्तविक शब्द-रूप को छोड़कर यदि केवल उनमें वर्णित सिद्धान्तों का निरूपण किया जाय तो हम सम्भवतः कबीर के मत की तह तक पहुँच सकें।

उनकी सम्पूर्ण वाणियों का मंथन करने पर ऐसा जान पड़ता है कि उनके कुछ तो निश्चित सिद्धान्त थे और कुछ ऐसे थे, जो फक्कड़ी, साधुओं की भाँति जहाँ जैसा मन में आता था, कह देते थे और यह भी नहीं विचार करते थे कि हमने जो कहा है, वह परस्पर विरोधी तो नहीं है। उनका यह निश्चित मत था कि गुरु ही मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र, नेता और पथ-प्रदर्शक है। उनका दूसरा निश्चित मत यह था, कि सांसारिक मोह-माया में पड़नेवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और तीसरा उनका निश्चित मत था कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए सच्ची लगन होनी चाहिए। इन तीन मतों के अतिरिक्त जो कुछ उन्होंने अपनी सधुक्कड़ी भाषा में कहा है, वह केवल पिष्टपेषण और अन्य सन्तों का श्रुत कथन मात्र है।

क्या कबीर दार्शनिक थे ?

कबीर ने कहा है, 'रामानन्द चेताये', किन्तु इस 'चेताये' की उन्होंने कोई व्याख्या नहीं की पर यह तो स्पष्ट है कि रामानन्द जी जिस वैष्णव धर्म के दार्शनिक मत का पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन और प्रचार कर रहे थे, वह कबीर को नहीं प्राप्त हो सका और उसका कारण था, कबीर का अनपढ़ होना, और यह अधिक सम्भव है कि अपने मुसलमान शिष्य की दृढ़ आस्था

देखकर उसे तुष्ट करने के लिए उन्होंने राम और अल्लाह के एकत्व की उदात्त-भावना ब्रह्म-राम के रूप में समझा दी हो और सम्भवतः जो कबीर पहले अल्लाह-अल्लाह पुकारता हो और राम को केवल दशरथनन्दन समझ कर उनमें मनुष्यत्व की ही भावना रखता हो वह राम के इस विश्वात्म रूप को समझ कर उसे भी अल्लाह ही मानने लगा हो और यही सम्भवतः रामानन्द ने चेताया भी हो, क्योंकि रामानन्द जी ने भी राम को परम तत्व के रूप में ग्रहण किया था और इस प्रकार पार्थिव राम को तात्विक राम मान लेने से उन्हें भी ब्रह्म का पर्याय मान लेने में तथा सभी एकेश्वरवादी मतों में समन्वित करने में कोई कठिनाई नहीं होती। राजनीतिक दृष्टि से भी राम का प्रचार करने के लिए और वह भी मुसलमानों के विरोध से बचकर, इससे अच्छा कोई दूसरा मार्ग ही नहीं था कि राम को अवतार या विष्णु का लौकिक रूप न कहकर उसे भी साक्षात् सच्चिदानन्द परब्रह्म बना दिया जाय और यही बात कबीर की भी समझ में आ गई हो और उनके मन का सब संशय दूर हो गया हो। इसके आधार पर यदि हम दार्शनिक दृष्टि से कबीर के मत का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उन्होंने जहाँ अवतारवाद का समर्थन किया है, वह ब्रह्म के रूप में और जो खण्डन किया है, वह उनके लौकिक रूप और लौकिक उपासना का है। उन्होंन इड़ा, पिंगला नाड़ियों के बीच स्थित सुषुम्ना नाड़ी में चलने वाली कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्त्रार चक्र पार करके अमृत पिलाने की बात भले ही कही हो पर यह उनका दार्शनिक पक्ष नहीं है। यह तो किसी ऐसे शिष्य की करामात है, जिसने नाथ-पन्थियों के हठयोग से उधार लेकर कबीर पन्थ में इसका समावेश कर दिया अथवा कबीर ने ही नाथपन्थी सन्तों के सम्पर्क में आकर उनकी सुनी-सुनाई बात कह दी हो। यदि ये दार्शनिक होते तो जो खंडन-मंडन की और स्वसिद्धान्त निरूपण की शैली शंकराचार्य जी ने अथवा उनके परवर्ती दार्शनिकों ने ग्रहण की थी, वैसे ही शैली का आश्रय कबीर भी लेते किन्तु यह शास्त्रार्थ का पन्थ छोड़कर उन्होंने सन्तों का वह पथ ग्रहण किया, जिसमें सबको समझाने

और सुपन्थ पर लाने के लिए नीति के उपदेशों, लौकिक-रूपकों तथा लोक हृदय को प्रभावित करने वाले लोक प्रचलित आख्यानों, कथाओं, उदाहरणों और उपमानों का आश्रय लिया जाता था। कभी-कभी ऐसी उलटवासियाँ भी कही जाती थीं जिनका अर्थ या तो लोग समझते नहीं थे या खींच-तान कर किसी आध्यात्मिकता की ओर लगा लेते थे।

उनका मत निश्चित करने में कठिनाई

हम ऊपर भी संकेत कर आए हैं कि कबीर ने स्वयं कुछ नहीं लिखा क्योंकि वे कहते हैं —

मसि कागद तो छुयौ नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु जुग महात्म्य तेहि, कहि कै जनायौ नाथ॥

पर उपर्युक्त दोहे के दूसरे चरण से यह ध्वनि निकलती है कि या तो उन्हें ईश्वर-कृपा से दिव्य-दृष्टि और दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया था जैसा प्रायः महापुरुषों को 'इलहाम' या 'दैवी सन्देश' के रूप में मिल जाया करता है किन्तु यह इसलिए ग्राह्य नहीं है कि यदि वे इस प्रकार स्वयं सम्भूत ज्ञानी होते तो वे कभी किसी को गु न बनाते और ईसा तथा मुहम्मद के समान अपने को देवपुत्र या ईश्वरपुत्र घोषित कर देते। किन्तु स्थान-स्थान पर उन्होंने गुरु करने का जो स्पष्ट और निश्चित आदेश दिया है उसी से यह स्पष्ट है कि वे निगुरों को ठीक नहीं समझते थे और सम्भवतः इसीलिए उन्होंने भी इस दोष के निवारण के लिए श्री रामानन्द को अपना गुरु बना लिया हो। वे मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों अथवा मुनियों के समान इतने योगस्थ भी नहीं थे कि सिद्धि के रूप में उन्हें अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो। फिर यह 'कहि कै जनायौ नाथ' में 'नाथ' शब्द क्या इंगित करता है। क्या वह नाथ पन्थियों का 'नाथ' ही तो नहीं है जिनके प्रभाव में आकर कबीर ने हठयोग का इतना लम्बा-चौड़ा विवरण और इतने रूपक अपने काव्य में दिए हैं अथवा जिनके सहयोग से किसी प्रकार कबीर को इन सब क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त हो गया

हो। अभी तक कबीर पर लिखनेवाले विद्वानों ने उपर्युक्त दोहे में आए हुए 'नाथ' शब्द पर विचार नहीं किया है किन्तु 'रामानन्द चेताए' के साथ-साथ 'जनायौ नाथ' भी कम महत्त्व का नहीं है और यह सिद्ध करता है कि रामानन्द ने केवल भ्रम का निराकरण मात्र किया था या कुपथ पर चलने से रोककर सुपथ् ओर प्रवृत्त किया था किन्तु वास्तविक ज्ञान 'नाथ' ने ही दिया था और इसीलिए कबीर का वैष्णव संस्कार उनके नाम से प्रचलित रचनाओं में अत्यन्त दबा जान पड़ता है, मुसलिम संस्कार भी नाममात्र को ही है किन्तु नाथपन्थियों का संस्कार प्रबल रूप से उनकी रचनाओं में व्याप्त दिखाई पड़ता है। इसलिए या तो कबीर अपने पिछले दिनों में नाथपन्थियों से एक-मत हो गए हों और दीक्षित न हो सकने के कारण केवल उनके सिद्धान्तों और क्रियाओं के आधार पर अपना नया पन्थ प्रतिपादित करने लगे हों अथवा नाथ-पन्थियों ने ही, कबीर के नाम पर इला, पिंगला, सुषुम्ना और कुण्डलिनी की साधना का प्रचार किया हो जैसा प्रायः हुआ करता है कि लोगों को जो बातें सिद्ध करनी होती हैं या प्रचारित करनी होती हैं उन्हें किसी लोक-प्रसिद्ध महापुरुष के नाम से लोक में चला देते हैं और फिर वह इतनी अधिक प्रचलित हो जाती हैं कि उस महापुरुष के तथा वास्तविक मूल वचनों से उसे बिलगाना सम्भव नहीं होता।

दूसरी कठिनाई भी कबीर के दोहे से ही उत्पन्न हुई है। वे कहते हैं —

बोली हमरी पूर्व की, हमें लखा नहिं कोइ।
हमको तो सोई लखै, घर पूरब का होइ॥

इसका तात्पर्य यह है कि कबीर ने बनारसी पूरबी भाषा में अपनी रचना की है किन्तु प्रामाणिक ग्रन्थ के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा ने जो कबीर ग्रन्थावली प्रकाशित की है उसकी भाषा पूरबी नहीं है। पूरबी क्या, पच्छिमी भी नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी अत्यन्त अप्रामाणिक व्यक्ति ने वह संग्रह किया है। कुछ विद्वानों ने उसे अत्यन्त प्राचीन मानकर उसे प्रामा-

णिक मान लिया है किन्तु प्रामाणिकता का आधार प्राचीनता नहीं होता क्योंकि यह क्या सम्भव नहीं है कि संकलनकर्ता ने सुन सुनकर संकलन किया हो और फिर यही क्या प्रमाण है कि उसने ही अपनी ओर से बहुत कुछ कबीर के नाम पर न बढ़ा दिया हो। यही बात गुरु ग्रन्थ साहब में आई हुई कबीर की वाणी के सम्बन्ध में है। उसमें भी जो भाषा प्राप्त है वह पञ्जाबी से प्रभावित और गुरु अर्जुनदेव ने जो संग्रह कराया उसका सम्पादन किस प्रकार हुआ, किसने किया, क्या सम्पादन करने वाले का 'घर' पूरब का था, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान किए बिना आगे बढ़ना और कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करना संकट से मुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में यदि इस दोहे को भी दार्शनिक बना दिया जाय और इसका यह अर्थ लगा लिया जाय कि हमारी बोली 'पूर्व' की अर्थात् आदिवाणी है इसलिए हमें किसी ने नहीं लखा या समझा। हमें तो वही समझ सकता है जिसका घर पूर्व का हो अर्थात् जो पूरब में पूर्व पुरुष-आदि पुरुष में रम चुका हो तभी कुछ उद्धार का मार्ग दिखाई पड़ सकता है।

काव्य और कबीर

काव्य के साथ कबीर का गठबन्धन जिन्होंने किया है और काव्य का अध्ययन करने, काव्यानन्द लेनेवालों के लिए जो कबीर को भी जोड़ दिया है उन्होंने न कबीर के साथ न्याय किया है न काव्यरसिकों के। सर्व प्रथम 'नवरत्नों' में कबीर की गणना की मिश्र-बन्धुओं ने और उसके पश्चात् तो सभी लोग कबीर को कवियों में गिनने लगे। किन्तु इन विद्वानों ने यह विचार नहीं किया कि कबीर साधु थे और उनकी वाणी एक विशेष मत या सम्प्रदाय से प्रेरित किसी दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन करनेवाली है और वह दार्शनिक पक्ष केवल न्याय-शास्त्र के अनुसार तर्क-सिद्ध नहीं है वरन् अनुभव-सिद्ध हो सकता है। अतः जब तक वह अनुभव प्राप्त नहीं होता तब तक वह सब वाणी निरर्थक है। फिर उस पक्ष का दार्शनिक आधार इतना

गूढ़, जटिल और ज्ञान-साध्य है कि केवल त्रिकुटी, कुण्डलिनी, षट्चक्र और नाड़ियों का परिचय मात्र प्राप्त कर लेने से उसका अर्थ नहीं स्पष्ट हो सकता और पूर्णतः समझ लेने पर और साध लेने पर ब्रह्मानन्द भले ही प्राप्त हो जाय किन्तु काव्यानन्द तो नहीं ही मिल सकता। अतः जब काव्यानन्द नहीं प्राप्त करा सकता तब वह काव्य के अध्ययन से बाहर रहना चाहिए। काव्य के अन्तर्गत उसका समावेश करना काव्य-रसिकों पर अनावश्यक भार डालना है और फिर कबीर के साथ भी तो न्याय नहीं हो सकता क्योंकि जो काव्य-रसिक कबीर में काव्य ढूँढने का प्रयत्न करेगा वह निराश होकर कबीर के सम्बन्ध में जो धारणा निश्चित करेगा वह अवांछित और निराधार होगी। अतः कबीर की वाणी को काव्य की परिधि में लाना न तो न्यायसंगत है न युक्तिसंगत।

बहुत-से विद्वानों का यह तर्क है कि उनकी रचनाओं में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आए हैं। उक्ति-वैचित्र्य भी मिलता है और काव्य में जो गुण होने चाहिएँ वह भी कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं किन्तु किसी की रचना को काव्य कहने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए पहले तो स्वयं कवि का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह काव्य की रचना कर रहा है और फिर उन रचनाओं में कवि की यह प्रवृत्ति होनी चाहिए कि वह अपने साथ अपने समय की काव्य-रूढ़ियों अथवा स्वनिर्मित काव्य-नियमों के आधार पर व्यवस्थित रचना करता हो। किन्तु कबीर की रचनाओं में ये दोनों बात नहीं हैं अतः व्यर्थ उन्हें कवि की कोटि में घसीट लाना कबीर के प्रति भी घोर अन्याय है और काव्यरसिकों के प्रति भी जिन्हें काव्य का रस उनके 'महारस' में डुबकी लगाने पर भी नहीं मिल सकता।

तब कबीर को क्या समझा जाय?

कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने से इतनी बातें स्पष्ट प्रकट होती हैं – -

१. उनका कोई निश्चित मत नहीं था। जिस प्रकार के साधु या सन्त के प्रभाव में वे आते थे उसका ही अपने सन्त स्वभाव के कारण समर्थन कर देते थे। सन्त स्वभाव की या सज्जन की एक बड़ी दुर्बलता या विशेषता यह होती है कि वह किसी का अविश्वास नहीं करता है और सामने कोई आ जाता है और सद्भावना के साथ अपना मत व्यक्त करता है, तो उसे स्वीकार करने में वह संकोच नहीं करता। दूसरी बात यह है कि फक्कड़ सन्त किसी से डरते भी नहीं हैं। वे जिस बात को अनैतिक, अनुचित अथवा अयोग्य समझते हैं उसका स्पष्टतः विरोध करने में वे हिचकिचाते भी नहीं हैं यही कारण है कि कबीर का अपना कोई निश्चित मत नहीं था, सब मतों में जो उन्हें ठीक जँचा उन्होंने ग्रहण किया, जो अनुचित जँचा उसका खण्डन या विरोध किया।

२. कुछ स्थानों पर जो परस्पर विरोधी वचन दिखाई पड़ते हैं उसका कारण यही है कि उनके सामने उनके वचनों का कोई संग्रह तो था नहीं अतः उन्हें यह अवसर ही कहाँ मिल सका कि वे परस्पर विरोधी विचारों का खंडन कर सकें। यह भी संभव हो सकता है कि अपने लम्बे जीवन काल में उन्होंने कुछ बातों के सम्बन्ध में अपने मत बदल दिए हों क्योंकि सन्त और महापुरुष का यह भी प्रधान लक्षण है कि वह यदि देखता है कि मेरा पिछला विचार भ्रामक, असत्य, अनैतिक अथवा असंगत था तो वह तत्काल ठीक मत अपना लेता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का यह धर्म भी है कि वह नये अनुभव के आधार पर अपने विचार और मत में संशोधन करता चले। इसीलिए यह कल्पना ही निर्मूल और असंगत है कि कबीर के सिद्धान्त या मत आदि से अन्त तक एक ही रहे। यह भी बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ में वे वैष्णव रहे हों, अवतारवाद में विश्वास करते हों और फिर अपने विचारों के प्रौढ़ होने पर, अधिक साधु-संगति करने पर उन्होंने अपने विचार बदल लिए हों और नाथ-पन्थ को ही श्रेष्ठ मानने लगे हों। किन्तु उनका अन्तिम मत क्या था इसका कोई निश्चित प्रमाण न

मिल सकने के कारण ध्रुव रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका वास्तविक मत क्या था।

प्रायः विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि वे समन्वयवादी थे किन्तु समन्वयवादी व्यक्ति किसी का खण्डन करके समन्वय नहीं स्थापित करता। वह तो सबकी श्रेष्ठताओं में व्याप्त मौलिक एकता खोजकर उसके द्वारा सबको एक करने की चेष्टा करता है। 'कबीर एण्ड दि कबीर-पन्थ' के लेखक ने उन्हें अपने युग का मार्टिन लूथर कहा है क्योंकि जिस प्रकार मार्टिन लूथर ने रोम के पोपों के वर्द्धमान आडम्बरों का भण्डाफोड़ करके उसका विरोध किया था उसी प्रकार कबीर ने भी तत्कालीन हिन्दू और इस्लाम धर्म के प्रवर्द्धित बाह्याचार का भरपूर खण्डन करके एकेश्वरवाद का समर्थन किया था। इस दृष्टि से उनका प्रयास स्वामी दयानन्द जी के समान था जिन्होंने अपने समय के सभी धर्मों और सम्प्रदायों का विरोध तथा खण्डन करके वैदिक एकेश्वरवाद की स्थापना करके अपना एक अलग समाज स्थापित किया। अतः उन्हें समन्वयवादी समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। साथ ही उनकी वाणी को पढ़ने या समझने में भी सन्देह नहीं रह जाता कि उनका ईश्वर वेदान्तियों वाला ब्रह्म है जिसके लिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' की परिभाषा की गई है। उन्होंने अपने ईश्वर की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं की है। नादब्रह्म, परमज्योति, महारस, अक्षय पुरुष, अविनाशी पुरुष, अचिन्त्य पुरुष और न जाने कितने रूपों में उन्होंने अपने ईश्वर को समझाने या समझने की चेष्टा की है किन्तु वे स्वयं समझ पाए हों यह सम्भव होते हुए भी यह निश्चित है कि उसे वे समझा नहीं पाए। साधारण रूप से यह कह सकते हैं कि आचार मूलक धर्मों के बीच वे बुद्ध के समान मध्यम मार्ग तो बनाना चाहते थे किन्तु वह अनात्मवादी न होकर सर्वात्मवादी बन गया और यह सर्वात्मवाद या विश्वात्मवाद भी कहीं कहीं जाकर कुण्ठित हो जाता है जैसे —

'ना मैं छुरी गंडास में, ना काबे कैलास में।'

कबीर के समय स्मार्त्त धर्म के प्रचार के कारण इतने देवता भी हो चले थे कि वास्तविक सन्तों को मौलिक अभिन्नता बनाए रखने के लिए उन सबसे अलग रहकर नैतिक उदात्तता का प्रचार करते हुए तथा सबकी श्रद्धा और भावना का आदर करते हुए एक दार्शनिक आधार बनाना ही था। अतः एकेश्वरवाद ही एकमात्र ऐसा मार्ग था जिसका विरोध न सगुणवादी कर सकते थे न एकेश्वरवादी मुसलमान न अन्य सन्त लोग जिनकी एक विशिष्ट परम्परा भारत भर में परिव्याप्त थी और जिनको लोक संग्रह करने और जनता में उदात्त भावों के उद्बोधन का अधिक श्रेय है। अतः हिन्दू और मुसलमान दोनों का संस्कार प्राप्त किए हुए कबीर ने भी उसी को अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझा होगा।

बहुत से वर्तमान विद्वानों ने उन्हें समाज-सुधारक भी बताने की चेष्टा की है किन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द अथवा राजा राममोहनराय के समान घूम घूमकर एकता का प्रचार किया हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता और न यही प्रमाण मिलता है कि मार्टिन लूथर अथवा स्वामी दयानन्द के समान उन्होंने हिन्दू और मुसलिम समाज के आचारमूलक धर्मों के विरुद्ध कोई आन्दोलन ही किया हो। केवल कुछ थोड़ी-सी गिनी चुनी बीस-तीस ऐसी उक्तियों से उन्हें समाज सुधारक नहीं कह सकते जिनमें उन्होंने दोनों मुख्य धर्मों के आचारों की निन्दा की हो या दोनों को एक ईश्वर में विश्वास करने की बात कही हो। अतः यह कहना सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि उन्होंने राजनीतिक या समाज सुधार के उद्देश्य से अपने कबीर पन्थ का प्रचार किया।

कबीर के साथ एक और भी विलक्षण बात थी। वे गृहस्थ साधु थे। अपने घर का काम करते हुए उन्होंने सत्संग किया और जो उन्होंने ठीक समझा वह कहते तथा करते रहे। हाँ, इतना अवश्य है कि 'काशी का जुलहा' होते हुए भी वे जाति-पाँति की लोक-साधारण सीमाओं को लाँघ चुके थे और चाहे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई हो या न हुई हो किन्तु उनमें ऐसा आत्म-विश्वास अवश्य जाग गया था जिसमें मनुष्य अलौकिक सत्ता से सम्पर्क

प्राप्त करने की मानसिक अनुभूति और तुष्टि प्राप्त कर लेता है। इस मानसिक अभ्युत्थान में सांसारिक वन्धन स्वयं खुलकर गिर पड़ते हैं और वह अपने को निरुपाधि और स्वतन्त्र समझने लगता है। उस समय वह भी शुद्ध, बुद्ध और मुक्त के तुल्य ही हो जाता है। जीवन्मुक्त की जो आध्यात्मिक स्थिति होती है उसी में वह भी पहुँच जाता है इसलिए कबीर को भी उसी प्रकार का मुक्त मानस जीवन्मुक्ताभास सन्त पुरुष समझना चाहिए।

आगे हमने कबीर के तुलनात्मक अध्ययन के लिए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔधजी, बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० रामकुमार वर्मा तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कबीर-सम्बन्धी कुछ तात्विक विचार संग्रह कर दिए हैं जिनसे कबीर को समझने में और उनका अध्ययन करने में सुविधा हो।

कबीर की भाषा इतनी अप्रामाणिक है कि उसपर विचार करना व्यर्थ है। यही बात छन्द के सम्बन्ध में है। कबीर के रूपक बड़े सटीक हैं, और सम्भवतः उन्हीं से प्रभावित होकर, विद्वानों ने कबीर को भी सन्तों की टोली से खींचकर कवियों के दरबार में ला बैठाया जहाँ न कबीर कवियों को समझते हैं न कविगण कबीर को। यही कारण है कि भारतीय दर्शन, सूफीमत और नाथपन्थ के हठयोग का साधारण सा उड़ता उड़ता ज्ञान रखने वाले लोग कबीर की वाणी के न जाने कितने बे-सिर पैर के अर्थ कर डालते हैं।

मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम भाग में लिखा है—

इस समय तक भाषा और भी परिपक्व हो गई थी। कविता की दृष्टि से इनकी उलटबाँसी बहुत प्रशंसनीय है। इनकी रचना सेनापति की श्रेणी की है। इन्होंने खरी बातें बहुत उत्तम और साफ-साफ कही हैं और इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके ऐसे बेधड़क कहनेवाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीर जी का अनुभव खूब बढ़ा-चढ़ा था और इनकी दृष्टि अत्यन्त पैनी थी। कहीं-कहीं इनकी भाषा में गँवारूपन आ जाता है, पर उसमें उद्दण्डता की मात्रा अधिक होती है। ....इनके कथन देखने में तो साधारण समझ पड़ते हैं परन्तु उनमें गूढ़

आशय छिपे रहते हैं। इन्होंने रूपकों, दृष्टान्तों और उत्प्रेक्षाओं आदि से धर्म सम्बन्धी ऊँचे विचारों एवं सिद्धान्तों को सफलतापूर्वक व्यक्त किया है।

किन्तु कबीर के अर्थ के सम्बन्ध में नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्—एक भी ऐसा विद्वान् नहीं है जिसका अर्थ प्रामाणिक हो अथवा जो डंके की चोट पर कह सके कि मैं जो अर्थ बताता हूँ वही ठीक है। इसीलिए हमने इसी के साथ विभिन्न विद्वानों के मत दे दिए हैं कि पारखी लोग उसमें से कूट छानकर तत्त्व निकाल लें।

तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब जूठी॥

इसका तात्पर्य ही यह है कि शुद्ध सम्प्रदायवादी सगुण भक्ति की बात सूर ने कही, स्मार्त्त समन्वयवादी लोकसंग्रह बुद्धि से तुलसी ने कह दिया और शेष निर्गुण-मतों, सम्प्रदायों और पन्थों के विषय में जो कुछ बचा था वह कबीर ने कह दिया और यही वास्तव में कबीर के सम्बन्ध में सत्य भी है।

निर्गुणधारा (ज्ञानाश्रयी शाखा)

कबीर

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

रामानुज की शिष्य परम्परा में होते हुए भी रामानन्द जी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानन्द जी से ही प्राप्त हुआ था। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानन्द के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया, हठयोगियों तथा सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया। अतः उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई अद्वैतवाद के स्थूल

रूप का कुछ परिज्ञान उन्हें रामानन्द जी के सत्संग से पहले ही से था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए वे ब्रह्म के पर्याय हुए --

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान-मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पन्थ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुण बानी' कहलाती है पर उपासना क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसलिए कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि, निर्गुण ब्रह्म सत्ता का संकेत मिलता है जैसे —

पण्डित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि न सिरजनहारा॥
जोति सरूप काल नह उहँवाँ; बचन न आहि सरीरा।
थूल सुथूल पवन नहिं पावक; रवि ससि धरनि न धीरा॥

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे —

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती॥

और कहीं सोपाधि ईश्वर की, जैसे —

साईं के सब जीव हैं कीरी कुन्जर दोय।

सारांश कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिन्दू-शास्त्रों की हैं जिसका संचय उन्होंने रामानन्द जी के उपदेशों से किया। माया

जीव, ब्रह्म, तत्वमसि, आठमैथुन (अष्ट मैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे ! उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में वे कहते हैं —

तत्वमसी उनके उपदेसा । ई उपनीषद कहै संदेसा ।।
जागबलिक और जनक संवादा । दत्तात्रेय बहै रस स्वादा ।।

यहीं तक नहीं, वेदान्तियों के कनक-कुण्डल न्याय आदि का व्यवहार भी इनके बचनों में मिलता है :—

गहना एक कनक ते गहना, इन सह भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ करि थापित इक निमाज, एक पूजा ।।

इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे चन्द, सूर, नाद, बिन्दु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत् रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं जैसे —

सूर समाना चन्द में दहूँ किया घर एक ।
मन का चिन्ता तब भया कछू पुरविला लेख ।।
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि ।
ताका पाणी को हंसा पीवै विरला आदि विचार ।।

वैष्णव सम्प्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फकीरों को भी मान्य हुआ । हिंसा के लिए वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे —

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय ।
यह तो खून वह बंदकी, कैसे खुसी खुदाय ।।

अपनी देखि करत नहीं अहमक, कहत हमारे बड़न किया ।
उसका खून तुम्हारी गरदन, जिन तुमको उपदेस दिया ।।

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल ।।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिन्दू साधु संन्यासियों से ग्रहण कीं जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पन्थ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकाण्ड की प्रधानता देनेवाले पण्डितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासनाविधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कार पूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था जैसे —

है कोई गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि वेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आखिन्ह सूझै ।।
गाय तो नाहर को धरि खायौ हरिना खायौ चीता।

अथवा —

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और उक्तियों द्वारा ही उन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर प्रेम की व्यंजना सूफियों में बहुत प्रचलित थीं। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित हुई थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसको

कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी में ज्ञान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को ख़सम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक; जैसे —

मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।

अथवा —

साईं के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ों छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिए बड़ी लम्बी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी-कभी कहते थे।

कबीर

(धर्म सिद्धान्त)

(अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')

मेरा विचार है कि कबीर साहब एकेश्वरवाद, साम्यवाद, भक्ति-वाद जन्मान्तरवाद, अहिंसावाद और संसार की असारता के एवं मायावाद, अवतारवाद, देववाद, हिंसावाद, प्रतिपादक मूर्तिपूजा, कर्म्मकाड, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा और वर्णाश्रम धर्म के विरोधी हैं। वे हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मग्रन्थों और धर्म-नेताओं के कट्टर प्रतिवादी हैं और प्रायः इनके धर्म-याजकों पर बुरी तौर से आक्रमण करते हैं। कहीं-कहीं इस आक्रमण की मात्रा इतनी कलुषित और अश्लील है जो समुचित नहीं कही जा सकती।

हमने कबीर के ऊपर 'एकेश्वरवाद' का प्रतिपादक कहा है किन्तु

उनका एकेश्वरवाद कुछ भिन्न है। उनका प्रभु विलक्षण है। उनके मुहावरे के अनुसार एकेश्वरवाद शब्द ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रभु ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म, निर्गुण, सगुण सबके परे है। इस प्रभु को वे एक स्थान विशेष 'सत्य-लोक' का निवासी मानते हैं और उनके लक्षण वे ही बतलाते हैं जो वैष्णव ग्रन्थों में सगुण ब्रह्म के बतलाए गये हैं। वे कहते हैं कि वह सत्य गुरु के प्रसाद से केवल भक्ति द्वारा प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का अन्य कोई साधन वे नहीं बतलाते।

(देखो शब्द १६–२४)

वे उसका परिचय प्रायः राम शब्द द्वारा देते हैं, किन्तु अपनी रचनाओं में हरि, नारायण, सारंगपानी, समरथ, कर्ता, करतार, ब्रह्म, परब्रह्म, निर-च्छर, सत्यनाम, मुरारि इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी उसके लिए करते हैं। अपना रक्खा हुआ उसका 'साहब' नाम उन्हें बहुत प्यारा है। इस ग्रन्थ के अधिकांश पद्य इसके प्रमाण हैं।

साम्यवाद, अहिंसावाद, जन्मान्तरवाद, भक्तिवाद और संसार की अनित्यता का निरूपण उन्होंने सर्वत्र किया है।

इस ग्रन्थ के साम्यवाद, उद्बोधन, उपदेश और चेतावनी, मिथ्याचार और संसार की असारता शीर्षक पद्यों में आप इन सिद्धान्तों का उत्तम रीति से प्रतिपादन देखेंगे।

अवतार के विषय में उनकी अनुमति आप इस ग्रन्थ के शब्द ४-५ में देखेंगे। और भी स्थानों पर उनको अवतारवाद का विरोध करते देखा जाता है। तथापि ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमें अवतारवाद का प्रतिपादन है।

निम्नलिखित शब्दों को देखिए ——

प्रहलाद पठाये पढ़न शाल। संग सखा बहु लिये बाल।।
मोको कहा पढ़ावसि आल जाल। मोरी पटिया लिखदेहु श्री गोपाल।।

नहि छोड़ों रे बाबा राम नाम। मोहि और पढ़न सो नहीं काम।।
काढ़ि खरग कोप्यो रिसाय। तुझ राखनहारा मोहि बताय।।
प्रभु थंभसें निकसे कर विस्थार। हरनाकस छेद्यो नख विदार।।
ओर परम पुरुष देवादि देव। भगत हेत नरसिंघ भेव।।
कह कबीर को लखै न पार। प्रहलाद उधारे अनिक बार।।
(आदि ग्रन्थ पृष्ठ ६५३)

इसके अतिरिक्त उनके पद्यों में सैकड़ों स्थानों पर रघुनाथ, रघुराय राजाराम, गोविन्द, मुरारि आदि अवतार सम्बन्धी नामों का योग उनको अवतारवाद का प्रतिपादक बतलाता है। किन्तु जिस दृढ़ता और व्यापक भाव से वे अवतारवाद का विरोध करते हैं, उसे देखकर मैं उनके विरोध मूलक विचार को ही मुख्य और दूसरे विचार को गौण मानता हूँ। एक और प्रकार से समाधान किया जाता है। वह यह कि जब वे परमात्मा का निरू-पण करने लगते हैं, तब उस आवेश में अवतारों को साधारण मनुष्य वर्णन कर जाते हैं। किन्तु जब स्वयं प्रेम में भरकर अवतारों के सामने आते हैं तब उनमें ईश्वरभाव ही प्रकट करते हैं। यह बात स्वीकार भी कर ली जाय तो भी इस विचार में गौणता ही पायी जाती है।

मायावाद, देववाद, हिंसावाद, मूर्तिपूजा, कर्म्मकाण्ड, व्रतउपवास, तीर्थयात्रा, वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कुछ कहते उनको कदाचित् ही देखा जाता है। वे इन विचारों के विरोधी हैं। इस ग्रन्थ की माया प्रपञ्च और मिथ्याचार शीर्षक शब्दावली पढ़िये। उस समय आपको ज्ञात होगा कि किस प्रकार वे इन सिद्धान्तों की प्रतिकूलता करते हैं।

कबीर साहब की शिक्षा में तो दो बातें तो ऐसी हैं जिनका वैष्णव धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, वरन् उनकी यह शिक्षा उस धर्म के प्रतिकूल है। ये दोनों बातें अवतारवाद और मूर्तिपूजा की प्रतिकूलता है। अवतारवाद के अनुकूल ही उनकी शिक्षा में कुछ वचन मिलते भी हैं, और इसमें कोई संदेह नहीं कि

गौण रूप से वे इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु मूर्तिपूजा के वे कट्टर विरोधी हैं, मेरा विचार यह है कि उनका यह संस्कार मुसलमान-धर्म-मूलक है। वैदिक काल से उपनिषद और दार्शनिक काल पर्यन्त आर्य-धर्म में भी कहीं अवतारवाद और मूर्तिपूजा का पता नहीं चलता। पौराणिक काल में ही इन दोनों बातों की नींव पड़ी। अतएव यदि ऊँचे उठा जाय तो कहा जा सकता है कि कबीर साहब ने प्राचीन आर्य-धर्म का अवलंबन करके ही अवतारवाद और मूर्तिपूजा का विरोध किया है। परन्तु यह काम स्वामी दयानन्द सरस्वती का था, कबीर साहब का नहीं। अपठित होने के कारण उनको वेदों और उपनिषदों की शिक्षाओं का ज्ञान न था। इसलिये इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था। उनके काल में पौराणिक शिक्षा का ही अखण्ड राज्य था, जो अवतारवाद और मूर्तिपूजा की जड़ है। इसलिए यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि ये दोनों बातें उनके हृदय में मुसलमान धर्म के प्रभाव से उदित हुई।

कबीर....ग्रन्थावली की भूमिका से

(श्यामसुन्दरदास)

तात्त्विक सिद्धान्त——कबीर ने चाहे जिस प्रकार हो, रामानन्द से रामनाम की दीक्षा ली थी, परन्तु कबीर के राम रामानान्द के राम से भिन्न थे। वे "दुष्टदलन रघुनाथ" नहीं जिनके सेवक 'अंजनिपुत्र महाबल-दायक, साधुसंत पर सदा सहायक' थे। राम से उनका अभिप्राय कुछ और ही था।

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥

राम से उनका तात्पर्य निर्गुग ब्रह्म से है। उन्होंने 'निरगुण राम निर्गुण राम जपहु रे भाई' का उपदेश दिया है। उनकी राम-भावना भारतीय ब्रह्म भावना से सर्वथा मिलती है। जैसा कि कुछ लोग भ्रामक समझते हैं, वे बाह्यार्थवाद-मूलक-मुसल्मान एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे।

निर्गुण भावना भी उनके लिये स्थूल भावना है जो मूर्ति-पूजकों की सगुण भावना के विरोधी पक्ष का प्रदर्शन मात्र करती है। उनकी भावना इससे भी अधिक सूक्ष्म है। वे 'राम' को सगुण और निर्गुण दोनों से परे समझते हैं।

"अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा॥

यह मुसलमानों की तर्कशैली का आश्रय लेकर 'खुदा के बन्दों' और 'काफिरों' की एकता प्रतिपादित करने के लिये कहा जान पड़ता है, मुसलमानी मत के समर्थन में नहीं, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है किः——

खालिक खलक, खलक में खालिक सब घर रह्यो समाई।

जो भारतीय ब्रह्म-भावना के ही परम अनुकूल है।

यद्यपि इनकी रचनाओं में भारतीय ब्रह्मवाद का पूरा-पूरा ढाँचा पाया जाता है तथापि उसकी प्रायः वे ही बातें उन्होंने अधिक विस्तृत रूप से वर्णन के लिये उठाई हैं जो मुसलमानी एकेश्वरवाद से अधिक मेल में थीं। इनका ध्येय सदा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य रहा है, यह भी इसका एक कारण है।

स्थूल दृष्टि से तो मूर्तिद्रोही एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजक बहुदेववाद में बहुत बड़ा अंतर है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें उतना अन्तर नहीं देख पड़ेगा जितना एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में है; वरन् सारतः वे दोनों एक ही हैं, क्योंकि बहुत से देवी देवताओं को अलग-अलग मानना और सबके गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर का मानना एक ही बात है। परन्तु ब्रह्मवाद का मूलाधार भी भिन्न है। उसमें लेशमात्र भी भौतिकवाद नहीं है। एकेश्वरवाद भौतिकवाद है, यह जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों की भिन्न सत्ता मानता है जबकि ब्रह्मवाद शुद्ध आत्म-तत्त्व अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानता। उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है और जड़ जगत् भी ब्रह्म है। कबीर

में भौतिक या ब्रह्मार्थवाद कहीं मिलता ही नहीं और आत्मवाद की उन्होंने स्थान स्थान पर अच्छी झलक दिखाई है।

ब्रह्म ही जगत् में एक मात्र सत्ता है, उसके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जो कुछ है ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही से सबकी उत्पत्ति होती है और फिर उसी में सब लीन हो जाते हैं।

सर्वव्यापी ब्रह्म जब अपनी लीला का विस्तार करता है तब इस नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है जिसे वह इच्छा होने पर अपने ही में समेट लेता है:—

इनमैं आप-आप सबहिन मैं आप-आप सूँ खेलै।
नाना भाँति खड़े सब भाँड़े रूप धरे धरि मेलै॥

वेदान्त में नामरूपात्मक जगत् से संबंध और कई प्रकार से प्रकट किया जाता है जिनमें से एक प्रतिबिंबवाद है जिसका कबीर ने भी सहारा लिया है। प्रतिबिंबवाद के अनुसार ब्रह्म बिंब है और नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिबिंब है। कबीर कहते हैं:—

खंडितमूल विनास, कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूँ जल मैं प्रतिब्यंब, त्यूँ सकल रामहि जाणीजै॥

सब प्रकार से यही सिद्ध किया गया है कि परिवर्तनशील नाशवान दृश्यों का अध्यारोप जिस एक अव्यय तत्त्व पर होता है, वही वास्तव है। जो कुछ दिखाई देता है, वह असत्य है, केवल मायात्मक भ्रांतिज्ञान है। यह बात कबीर ने स्पष्ट ही कह दी है :—

'संसार ऐसा सुपिन जैसा जीव न सुपिन समान।'

जो मनुष्य माया के इस प्रचार को सच्चा समझकर उसमें लिपट जाता है उसे शुद्ध स्वरूप जीव अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

बुद्धदेव के 'दुख सत्य' सिद्धान्त के समान ही कबीर का भी सिद्धान्त है कि यह संसार दुख ही का घर है :—

दुनियाँ भाँड़ा दुखका भरी मुंहाँ मुंह मूष।
अदया अलह राम की कुरहै ऊँणी कूष॥

संसार का यह दुख मायावृत्त है। परन्तु जो लोग माया में लिपटे रहते हैं, वे इस दुख में पड़े हुए भी उसे समझ नहीं सकते। इस दुख का ज्ञान उन्हीं को हो सकता है जिन्होंने मायात्मक अज्ञानावरण हटा दिया है। माया में पड़े हुये लोग तो इस दुख को सुख ही समझते रहते हैं:—

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

कबीर का दुख अपने लिये नहीं है, वे अपने लिये नहीं रोते, संसार के लिये रोते हैं क्योंकि उन्होंने साँई के सब जीवों को अपना अस्तित्व सर्मपित कर दिया था, संसार के लिये ईसामसीह की तरह उन्होंने अपने आपको मिटा दिया था।

माया के ये पांच पुत्र काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह हैं। मनुष्य के अधःपात के कारण ये ही हैं। आत्मा की पारमात्मिकता को यही व्यवधान में डालते हैं। अतएव परम तत्वार्थियों को इनसे सावधान रहना चाहिये।

पंच चोर गढ़ मंझा, हैं गढ़ लूटैं दिवस अरु संझा।
जौ गढ़पति मुहकम होई, तौ लुटि न सकै कोई॥

माया ही पाषंड की जननी है। अतएव माया का उचित स्थान पाखंडियों के ही पास है। इसीलिए माया को संबोधन कर कबीर कहते हैं:—

तहाँ जाहु जहँ पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीना।

कर्म्मकांड को भी कबीर पाषंड ही के अन्तर्गत मानते हैं, क्योंकि परमात्मा की भक्ति का सम्बन्ध मन से है, मन की भक्ति तन को स्वयं ही अपने अनुकूल बना लेगी, भक्ति की सच्ची भावना होने से कर्म भी अनुकूल होने लगेंगे परन्तु केवल बाहरी माला जपने अथवा पूजा पाठ करने से कुछ नहीं हो सकता। यह तो मानो और भी अधिक माया में पड़ना है।

जप तप संजम पूजा अरचा जेतिग जग बौराना।
कागद-लिखि-लखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना ।।

माया का दूसरा नाम अज्ञान है। दर्पण पर जिस प्रकार काई लग जाती है, उसी प्रकार आत्मा पर अज्ञान का आवरण पड़ जाता है जिससे आत्मा में परमात्मा का दर्शन अर्थात् अत्मज्ञान दुर्लभ हो जाता है, अतएव आत्मा रूपी दर्पण को निर्मल रखना चाहिए।

तौ दरसन देख्या चाहिये, तौ दरपन मंजत रहिये,
जब दरपन लागै काइ, तब दरसन किया न जाई ।।

दरपन का यही मांजना हरिभक्ति करना है। भक्ति ही से मायावृत्त अज्ञान दूर होता है और ज्ञान प्राप्ति के द्वारा अपने पराये का भेद मिटता है :—

उचित चेति च्यंति लै ताहीं। जा च्यंतत आपा पर नाहीं।
हरि हिरदै एक ग्यान उपाया। ताथैं छूट गई सब माया।।

सिद्धान्त और व्यवहार में, कथनी और करनी में भेद रखना कबीर के स्वभाव के प्रतिकूल है।

कबीर अपने को वैष्णव समझते थे। परन्तु सिद्धान्त और व्यवहार का, कथनी और करनी का भेद वे पसंद नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने दोनों का मिश्रण कर अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया जिसका मुसलमानी खुदावाद से भी बाहरी मेल था।

ज्ञानमार्ग के अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म शुष्क चिंतन का विषय है। कबीर ने इस शुष्कता को निकालकर प्रेमपूर्ण चिंतन की व्यवस्था की है। कबीर के इस प्रेम के दो पक्ष हैं, पारमार्थिक और ऐहिक। पारमार्थिक अर्थ में प्रेम का अर्थ लगन है जिसमें मनुष्य अपनी वृत्तियों को संसार की सब वस्तुओं से विमुख करके समेट लेता है और केवल ब्रह्म के चिंतन में लगा देता है और ऐहिक पक्ष में उसका अभिप्राय संसार के सब जीवों से प्रेम और दया का व्यवहार करना है।

जिन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है केवल वे ही अमर हैं; जन्ममरण का भय उन्हें नहीं रह जाता। उनके अतिरिक्त और सब नश्वर हैं। कबीरदास कहते हैं कि मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, इसीलिये वे अपने आपको अमर समझते हैं :—

हम न मरैं मरिहैं संसारा, हम कूँ मिल्या जिवावनहारा।
अब न मरौं मरनै मन मानां, तेइ मुए जिन राम न जाना॥

मनुष्य का आत्मा ब्रह्म के साथ एक है और ब्रह्म ही एकमात्र चिरस्थायी सत्ता है जिसका नाश नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य के आत्मा का भी नाश नहीं हो सकता, यही कबीर के अमरत्व का रहस्य है :—

हरि मरिहै तौ हमहू मरिहैं, हरि न मरै हम काहे कूँ मरिहैं।

यह सच है कि ऐहिक अर्थ में निराकार निर्गुण ब्रह्म प्रेम का आलंबन नहीं हो सकता, केवल चिंतन का ही विषय हो सकता है, परन्तु निराकार की इस विश्व-विस्तृत सृष्टि में उस मूल तत्त्व की सत्ता का जो आभास मिल जाता है, उसके कारण निर्गुण भक्त संसार के समस्त प्राणियों को अपने प्रेम और दया का पात्र बना लेता है, जबकि सगुण भक्त ही बहुत कुछ भावुकता ठाकुर जी की मूर्त्ति के बनाव शृंगार और उनके भोग राग के आडंबर ही में व्यय हो जाती है। इसी प्रेम ने कबीर को ऊँच नीच का भेद-भाव दूर करके सबकी एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी।

एक बूँद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उपजा कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥

कबीर का प्रेम मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, परमात्मा की सृष्टि के सभी जीव जंतु उसकी सीमा के अंदर आ जाते हैं; क्योंकि "सबै जीव साईं के प्यारे' हैं!

कबीर का यह प्रेम-तत्त्व जिसका ऊपर निरूपण किया गया है, सूफियों के संसर्ग का फल है परन्तु उसमें भी उन्होंने भारतीयता का पुट दे दिया है।

सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनके 'मजनूँ को अल्लाह भी लैला नजर आता है' परन्तु कबीरदास ने परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखा है जो भारतीय माधुर्य भाव के सर्वथा मेल में है। फारस में विरह व्यथा पुरुषों के और भारत में स्त्रियों के ही मत्थे अधिक मढ़ी जाती है। कबीर के सूफियाना भावों में भी भारतीयता कूट-कूट कर भरी हुई है।

इस प्रकार निर्गुणवाद और सगुणवाद की एकेश्वरवाद से बाहरी समता रखनेवाली बातों के सम्मिश्रण और उसके साथ प्रेम तत्व के योग से कबीर की भक्ति का निर्माण हुआ। प्रतिमा-पूजन के वे विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार नहीं, देशकाल का जिसके लिये कोई आधार आवश्यक नहीं, उसकी मूर्ति कैसी? जगह जगह पर उन्होंने मूर्ति पूजा के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है :—

हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई डारचा सिर थैं बोझ॥
सेवैं सालिगराम कूँ, मन की भ्राँति न जाइ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ॥

यद्यपि कबीर अवतारवाद और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, तथापि हिन्दू-मत की कई बातें वे पूर्णतया मानते हैं। हिन्दुओं का जन्म-मरण संबंधी सिद्धान्त वे मानते हैं। मुसलमानों की तरह वे एक ही जन्म नहीं मानते जिसके बाद मरने पर प्राणी कब्र में पड़ा पड़ा कयामत तक सड़ा करता है। जब तक कि प्राणी पुनरुज्जीवित होकर खुदाबंद करीम के सामने अपने अपने कर्मों के अनुसार अनंतकाल तक दोजख की आग में जलने अथवा बिहिश्त में हूरों और गिलमों का सुख भोगने के लिये पेश किये जायँ। सिद्धान्त रूप से वे अनेक जन्म मानते हैं, 'जनम अनेक गया अरु पाया'। इस जन्म में जो कुछ भोगना पड़ता है वह पूर्व के कर्मों का ही फल है। 'देखो कर्म कबीर का कछु पूरब जनम का लेखा'। कबीर ने यह तो कहा है कि सृष्टि

के सृजन और लय का कारण परमात्मा है; परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा है कि सृष्टि की रचना कैसे और किस क्रम से हुई है, कौन तत्व पहले हुआ और कौन पीछे।

ऊपर हमने कबीर की रचना में वेदान्त-सम्मत अद्वैतवाद की एक पूरी पूरी पद्धति के दर्शन किये हैं जिसे हम शुद्धाद्वैत नहीं मान सकते। शुद्धाद्वैत में माया ब्रह्म की ही शक्ति मानी जाती है, परन्तु कबीर ने माया को मिथ्या या भ्रम माना है, जिसका कारण अज्ञान है। यह शंकर का अद्वैत है जिसमें आत्मा और परमात्मा परमार्थत: एक माने जाते हैं, परन्तु बीच में अज्ञान के आ पड़ने से आत्मा अपनी पारमार्थिकता को भूल जाती है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अज्ञान-कृत भेद मिट जाता है और आत्मा को अपनी परमात्मिकता की अनुभूति हो जाती है। यही बात हम कबीर में भी देख चुके हैं।

उन्होंने स्थान-स्थान पर अवतारवाद का विरोध ही किया है। परन्तु नीचे लिखे पद से अवतारवाद का समर्थन भी होता है :—

बांधि मारि भावै देहि जारि, जेहूँ राम छाड़ौं तौ मेरे गुरुहि गारि।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ।
खंभा में प्रगटयौ गिलारि, हरनाकस मारयो नख बिदारि।
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ, प्रगट किये भगति भेव।
कहै कबीर कोई लखै न पार, प्रहिलाद उबारयो अनेक बार॥

भक्ति की झोंक में कबीर भी जब सांसारिक प्रेम मूलक संबंधों के द्वारा परमात्मा की भावना करने लगे तब परमात्मा में स्वयं ही गुणों का आरोप हो गया।

रहस्यवाद—कबीर रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। संसार चक्र का प्रवर्त्तन किसी अज्ञात-शक्ति के द्वारा होता है इस बात का अनुभव मनुष्य आदि काल से करता

चला आया है। उस अज्ञातशक्ति को जानने की इच्छा सदैव मनुष्य को रही है और रहेगी। परन्तु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखाई दे सकती जिस प्रकार जगत के अन्य दृश्य रूप, और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचार धारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। ऊपरी लगन से जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो गये हैं उन्होंने जब जब अपनी अनुभूति का निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब तब अपनी उक्तियों को स्पष्ट कर देने में अपने आपको असमर्थ पाया है। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूंगे का सा गुड़ है :—

(क) अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, बैठा मुसकाइ॥
(ख) तजि पावैं दाहिनै विकार, हरिपद दृढ़कर गहिये।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बूझै तो का कहिये॥

यही रहस्यवाद का मूल है। वेद और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। गीता में भगवान् के मुंह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है।

परमात्मा को पिता, माता प्रिया, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना रहस्यवाद ही है क्योंकि लौकिक अर्थ में परमात्मा इनमें से कुछ नहीं है। आदर्श पुरुष में परमात्मा की विशेष कला का साक्षात्कार कर उनको अवतार मानने के मूल में भी रहस्यवाद ही है। मूर्ति को परमात्मा मानकर उसे मस्तक नवाना आदिम रहस्यवाद है।

परन्तु भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद-मूलक होने में है जो भारतीयों की ब्रह्म जिज्ञासा का फल है? उपनिषदों और गीता का रहस्यवाद यही रहस्यवाद है। जिज्ञासु जब ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि भी होना चाहता है तब तो अवश्य ही वह इस रहस्यवाद की ओर

कवि भी होना चाहता है। तब तो अवश्य ही वह इस रहस्यवाद की ओर झुकता है। चिंतन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पा इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। सर्वात्मवादी कवि के रहस्योद्भावी मानस में संसार उसी रूप में प्रतिबिंबित नहीं होता, जिस रूप में साधारण मनुष्य उसे देखता है। वह परमात्मा के साथ सृष्टि का अखंड संबंध देखता है, जिसको चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हुए जायसी ने जगत् के सब रूपों को दिखलाया है। जगत् के नाना रूप उसकी दृष्टि में परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, उसी के भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप हैं।

सर्वात्मवादमूलक रहस्यवाद में माधुर्य भाव का उदय हुआ, जो कबीर और प्रेमाख्यानक सब मुसलमान कवियों में विद्यमान है। वैष्णवों और सूफियों की उपासना माधुर्य भाव से युक्त होती है। दार्शनिकों ने परमात्मा को पुरुष और जगत् को स्त्री रूप प्रकृति कहा है। माधुर्य भाव इसी का भावुक रूप है, जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री में देखे जाते हैं।

कबीर का रहस्यवाद

(श्री रामकुमार वर्मा एम० ए०)

कबीर का रहस्यवाद अपनी विशेषता लिये हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की गोद में खेलता है और दूसरी ओर मुसल्मानों के सूफी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही था कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सन्तों के सत्संग में रहे और वे प्रारम्भ से यही चाहते थे कि दोनों धर्म वाले आपस में दूध पानी की तरह मिल जायँ। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफीमत की 'गंगा-जमुनी' साथ ही बहा दी।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद ही मानों रहस्यवाद का प्राण है। शंकर के अद्वैतवाद में जो ईसा की ८ वीं सदी में प्रादुर्भूत हुआ, आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण ही परमात्मा में नाम और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानों आत्मा और परमात्मा की फिर एक बार एक ही सत्ता स्थापित करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन पर माया नष्ट हो जाती है तो दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है। कबीर इसी बात को इस प्रकार लिखते हैं :—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यहु तत कथौ गियानी।।

एक घड़ा जल में तैर रहा है। उस घड़े में थोड़ा पानी भी है। घड़े के भीतर जो पानी है, वह घड़े के बाहिर के पानी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। किन्तु वह इसलिए अलग है कि घड़े की पतली चादर उन दोनों अंशों को मिलने नहीं देती, जिस प्रकार माया ब्रह्म के दो स्वरूपों को अलग-अलग रखती है। कुम्भ के फूटने पर पानी के दोनों भाग मिल-कर एक हो जाते हैं; उसी प्रकार माया के आवरण हटने पर आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है। यही अद्वैतवाद कबीर के रहस्यवाद का आधार है।

दूसरा आधार है मुसलमानों का सूफीमत। हम यह निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि उन्होंने सूफी मत के प्रतिपादन के लिए ही अपने शब्द कहे हैं, पर यह निश्चय है कि मुसलमानी संस्कारों के कारण उनके विचारों में सूफीमत का तत्व मिलता है।

सूफ़ीमत

ईसा की आठवीं शताब्दी थी। उसी समय इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ। राजनैतिक नहीं, धार्मिक। पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक दल विरोधी उठ खड़ा हुआ। यह फारस का एक छोटा-सा सम्प्रदाय था। इसने परम्परागत मुस्लिम आदर्शों का ऐसा घोर विरोध किया कि कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गयी। इस सम्प्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलांजलि-सी दे दी। संसार के सारे ऐश्वर्यों और सुखों को स्वप्न की भाँति भुला दिया। बाह्य श्रृंगार और बनावटी बातों से उसे एक बार ही घृणा हो गयी। उसने एक स्वतंत्र मत की स्थापना की। सादगी और सरलता ही उसके बाह्य जीवन की अभिरुचि बन गयी। कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से बड़ी घृणा हो गयी। सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रखकर उस सम्प्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र बहुत ही साधारण रक्खे। वे थे सफेद ऊन के साधारण वस्त्र। फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ' कहते हैं। इसी शब्दार्थ के अनुसार सफ़ेद ऊन के वस्त्र पहिनने वाले 'सूफी' कहलाने लगे। उनके परिधान के कारण ही उनके नाम की सृष्टि हुई।

सूफी मत में भी यद्यपि बन्दे और खुदा का एकीकरण हो सकता है पर उसमें माया का कोई विशेष स्थान नहीं है। जिस प्रकार एक पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिये प्रस्थान करता है, मार्ग में उसे कुछ स्थल पार करने पड़ते हैं, उसी प्रकार सूफीमत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिये व्यग्र होकर अग्रसर होती है। परमात्मा के मिलने के पहिले आत्मा को चार दशाएँ पार करनी पड़ती है :—

१—शरियत।

२—तरीकत।

३—हकीकत ।

४—मारिफत ।

इस मारिफत में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं 'फना' होकर 'बका' के लिये प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और अनलहक़ सार्थक हो जाता है। इस प्रकार प्रेम में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार कर ईश्वर में मिलती है और तब दोनों शराव पानी की तरह मिल जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि सूफीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेम ही कर्म है, प्रेम ही मर्म है और प्रेम ही धर्म है। सूफी मत मानों स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढका हुआ है। उस सूफीमत के बाग को प्रेम के फुहारे सदा सींचते रहते हैं। निस्वार्थ प्रेम ही सूफीमत का प्राण है। फारसी के जितने सूफी कवि हैं वे कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं। प्रमाण स्वरूप जलालुद्दीन रूमी और जामी के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्रेम के साथ-साथ उस सूफीमत में प्रेम का नशा भी प्रधान है। उसमें नशे के खुमार का और भी महत्वपूर्ण अंश है। उसी नशे के खुमार की बदौलत ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। फिर संसार की कोई स्मृति नहीं रहती। शरीर का कुछ ध्यान नहीं रहता। केवल परमात्मा की 'लौ' ही सब कुछ होती है। कबीर ने भी एक स्थान पर लिखा है :—

हरिरस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमन्ता घूमत फिरैं, नाहीं तन की सार॥

एक बात और है, सूफी मत में ईश्वर की भावना स्त्रीरूप में मानी गयी है। वहाँ भक्त पुरुष बनकर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिये सौ जान

से निसार होता है। उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के एकीकरण होने न होने में चिन्तन और माया का बड़ा महत्वपूर्ण भाग है और सूफीमत में उसी के लिये हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का। हम यह पहिले ही कह चुके हैं कि कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफीमत पर आश्रित है। इसलिए उन्होंने अपने रहस्यवाद के स्पष्टीकरण में दोनों की--अद्वैतवाद और सूफीमत की--बातें ली है। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफीमत के स्त्रीरूप भगवान् की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष रूप भगवान के सामने सिर झुका लिया है। इस प्रकार कबीर ने दोनों सिद्धान्तों से अपने काम के उपयुक्त तत्व लेकर शेष बातों पर ध्यान ही नहीं दिया है।

अब हम रहस्यवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालना चाहते हैं। ये विशेषताएँ रहस्यवाद के विषय में अत्यधिक विवेचना कर यह बतला सकती हैं कि अमुक रहस्यवादी अपनी कल्पना के ज्ञान में कहाँ तक ऊँचा उठ सका है। इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण हम इस प्रकार करेंगे।

रहस्यवाद की पहली विशेषता यह है कि उसमें प्रेम की धारा अबाध रूप से बहनी चाहिए। रहस्यवादी अपनी अनुभूति में वह तत्त्व पा जाय, जिससे उसमें सांसारिक और अलौकिक जीवन का सामंजस्य हो; प्रेम का मतलब हृदय की साधारण-सी भावुक स्थिति न समझी जाय, वरन् वह अन्तरंग और सूक्ष्म प्रवृत्ति हो जिससे अन्तर्जगत् अपने सभी अगों का मेल बहिर्जगत् से कर सके। प्रेम हृदय की वह घनीभूत भावना हो जिससे जीवन का विकास सदैव उन्नति की ओर हो, चाहे

वह प्रेम एक बुद्धिमान के हृदय में निवास करे अथवा एक मूर्ख के हृदय में। किन्तु दोनों स्थानों में स्थित उस प्रेम की शक्ति में कोई अन्तर न हो। प्रेम का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं है। वह हृदय की वस्तु है मस्तिष्क की नहीं। अतएव एक साधारण से साधारण आदमी उत्कृष्ट प्रेम कर सकता है और एक विद्वान् प्रेम की परिभाषा से भी अनभिज्ञ रह सकता है। इसीलिए प्रेम का स्थान ज्ञान से बहुत ऊचा है। रहस्यवाद में उतनी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है जितनी प्रेम की। इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर ज्ञान से नहीं जाना जा सकता, प्रेम से वश में किया जा सकता है। जब तक रहस्यवादी के हृदय में प्रेम नहीं है तब तक वह अनन्त शक्ति की ओर एकाग्र भी नहीं हो सकता। वह उड़ते हुए बादल की भाँति कभी यहाँ भटकेगा, कभी वहाँ। उसमें स्थिरता नहीं आ सकती। इसीलिए ऐसे प्रेम की उत्पत्ति होनी चाहिए, जिसमें बन्धन नहीं, बाधा नहीं, जो कलुषित और बनावटी नहीं। उस प्रेम के आगे फिर किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है :—

गु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया,
अब पढ़ने को कछु नहिं बाकी।।
(कबीर)

इस प्रेम के सहारे रहस्यवादी ईश्वर की अभिव्यक्ति पाते हैं। जब ऐसा प्रेम होता है तभी रहस्यवादी मतवाला हो जाता है। कबीर कहते हैं :—

आठहूँ पहर मतवाला लागी रहै,
आठहूँ पहर की छाक पीवै,
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्म की छौल में साध जीवै,
सांच ही कहत और सांच ही गहत है
काँच को त्याग करि सांच लागा,

कहै कबीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरन का मार्ग भागा,

और उस समय उस प्रेम में कौन-कौन से दृश्य दिखलाई पड़ते है—

गगन की गुफा तहाँ गैव का चाँदना
उदय औ अस्त का नाव नाहीं।
दिवस औ रैन तहाँ नेक नहि पाइये
प्रेम औ परकास के सिंध माहीं॥
सदा आनन्द दुख दुन्द व्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
मर्म औ भ्रांति तहाँ नेक आवै नहीं,
कहै कबीर रस एक पेखा॥

रहस्यवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें आध्यात्मिक तत्व हो। संसार की नीरस वस्तुओं से बहुत दूर एक ऐसे वातावरण में रहस्यवाद रूप ग्रहण करता है, जिसमें सदैव नई-नई उमंगों की सृष्टि होती उस दिव्य वातावरण में कोई भी वस्तु पुरानी नहीं दीखती। रहस्यवादी के शरीर में प्रत्येक समय ऐसी स्फूर्ति रहती है। जिससे वह अनन्त शक्ति की अनुभूति में उड़ा करता है और सांसारिकता से बहुत दूर किसी ऐसे स्थान में निवास करता है जहाँ न तो मृत्यु का भय है, न रोगों का अस्तित्व है और न शोक का ही प्रसार है। उस दिव्य मिठास में सभी वस्तुएँ एक रस मालूम पड़ती हैं और कवि अपने में उस स्फूर्ति का अनुभव करता है, जिससे ईश्वरीय सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती है। उस आध्यात्मिक दशा में रहस्यवादी अपने को ईश्वर से मिला देता है और उस अलौकिक आनन्द में मस्त हो जाता है, जिसमें संसार के सूखेपन का पता ही नहीं लगता। उस आध्यात्मिक तत्व में अनन्त से मिलाप की प्रधानता रहती है। आत्मा और परमात्मा दोनों की अभिन्नता स्पष्ट

प्रकट होती है। प्रसिद्ध फारसी कवि जामी ने उसी आध्यात्मिक तत्व में अपना काव्य-कौशल दिखलाया है।

कबीर ने निम्नलिखित पद में इसी आध्यात्मिक तत्व का कितना सुन्दर विवेचन किया है :--

योगिया की नगरी बसै मति कोई,
जोरे बसै सो योगिया होई,
वही योगिया के उल्टा ज्ञाना,
कारा चोला नाहीं माना,
प्रगट सो कंथा गुप्ता धारी,
तामें मूल संजीवनी भारी.
वा योगिया की युक्ति जो बूझै,
राम रमै सो त्रिभुवन सूझै,
अमृत बेली छन छन पीवै,
कहै कबीर युग युग जीवै,

रहस्यवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह सदैव जागृत रहे, कभी सुप्त न हो। उसमें सदैव ऐसी शक्ति रहे, जिससे रहस्यवादी को दिव्य और अलौकिक झाँकी दीखती रहे। यदि रहस्यवाद की शक्ति अपूर्ण रही तो रहस्यवादी अपने ऊँचे आसन से गिर कर यहाँ-वहाँ भटकने लगता है और ईश्वर की अनुभूति को स्वप्न के समान समझने लगता है। रहस्यवाद तो ऐसा हो कि एक बार रहस्यवादी ने यह शक्ति प्राप्त कर ली कि वह ईश्वर में मिल जाय। जब उसमें एक बार यह क्षमता आ गयी कि वह ईश्वरीय विभूतियों को स्पर्श कर अपने में सम्बद्ध कर ले तब यह क्यों होना चाहिए कि कभी-कभी वह उन शक्तियों से हीन रहे? सूफी लोग सोचते हैं कि रहस्यवादी की यह दिव्य परिस्थिति सदैव नहीं रहती। उसे ईश्वर की अनुभूति तभी होती है जब उसे 'हाल' आते हैं। जीवन के

अन्य समय में वह साधारण मनुष्य रहता है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। जब रहस्यवादी एक बार दिव्य संसार में प्रवेश कर पाता है, जब वह अपने प्रेम के कारण अनन्त शक्ति से मिलाप कर लेता है, उसकी सारी बातें जान जाता है तब फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह कभी-कभी उस दिव्य लोक से निकाल दिया जाय, अथवा दिव्य सौन्दर्य का अवलोकन रोकने के लिए उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाय। रहस्य-वादी को जहाँ एक बार दिव्य लोक में स्थान प्राप्त हुआ कि वह सदैव के लिये अपने को ईश्वर में मिला लेता है और कभी उससे अलग होने की कल्पना तक नहीं करता।

रहस्यवाद की चौथी विशेषता यह है कि अनन्त की ओर केवल भावना ही की प्रगति न हो वरन् सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा उस ओर आकृष्ट हो जाय। यदि केवल भावना ही ऊपर उठी और हृदय अन्य बातों में संलग्न रहा तो रहस्यवाद की कोई विशेषता ही नहीं रही। अन्डरहिल रचित मिस्टिसिज्म में इसी विषय का एक बड़ा सुन्दर अवतरण है।

आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया का आवरण ही बाधक है। इसीलिए कबीर ने माया पर भी बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने "रमैनी" और 'शब्दों' में माया का इतना वीभत्स और भीषण चित्र खींचा है जो दृष्टि के सामने आते ही हृदय को न जाने कितनी भाव-नाओं से भर देता है। ज्ञात होता है, कबीर माया को उस हीन दृष्टि से देखते थे, जिससे एक साधू या महात्मा किसी वेश्या को देखता है। मानों कबीर माया का सर्वनाश करना चाहते थे। वास्तव में यही तो उनके रहस्यवाद में, आत्मा और परमात्मा की संधि में बाधा डालने वाली थी। उन्होंने देखा संसार है सत्पुरुष की आराधना के लिए। जिस निरंजन ने एक बार विश्व सृजन कर दिया वह मानो इसलिए कि उसने सत्पुरुष की उपासना के साधन की सृष्टि की। परन्तु माया ने उस पर पाप का परदा डाल दिया। कितना सुन्दर संसार है। उसमें कितनी ही

सुन्दर वस्तुएँ हैं। वह संसार सुनहला है, उसमें भाँति-भाँति की भावनाएँ भरी हैं। गुलाब का फूल है, उसमें मधुर सुगंधि है। सुन्दर अमराई है उसमें सुन्दर बौर फूला है। मनोहर इन्द्र-धनुष है, उसमें न जाने कितने रंगों की छटा है। पर वह सुगंधि, वह बौर, वह रंग माया के आतंक से कलुषित हैं। उस पुण्य के सुन्दर भाण्डार में पाप की वासनापूर्ण मदिरा है। उस सुनहले स्वप्न में भय और आशंका की वेदना है, ऐसा यह मायामय संसार है। पाप के वातावरण से हटकर संसार की सृष्टि होनी चाहिए। वासना के काले बादलों से अलग संसार का इन्द्रधनुष जगमगावे। उस संसार में निवास हो पर उसमें आसक्ति न हो। संसार की विभूतियाँ जिनमें माया का अस्तित्व है, नेत्रों के सामने बिखरी रहें पर उसकी ओर आकर्षण न हो। रूप हो पर उसमें अनुरक्ति न हो। संसार में मनुष्य रहे पर माया के कलुषित प्रभाव से सदैव दूर रहे।

अपनी 'रमैनी' और 'शब्दों' में कबीर ने माया के सम्बन्ध में बड़े अभिशाप दिये हैं। मानों कोई सन्त किसी वेश्या को बड़े कड़े शब्दों में धिक्कार रहा है और वह चुपचाप सिर झुकाये सुन रही है। वाक्य-वाणों की बौछार इतनी तेज हो गयी है कि कबीर को पद-पद पर कमर कसकर और साँस भरकर उस तेजी को सम्भालना पड़ता है। वे एक पद कहकर शांत अथवा चुप नहीं रह सकते। वे बार-बार अनेक पदों में अपनी भर्त्सना-पूर्ण भावना को जगा-जगा कर माया की उपेक्षा करते हैं। वे कभी उसका वासनापूर्ण चित्र अंकित करते हैं, कभी उसकी हँसी उड़ाते हैं, कभी उसपर व्यंग कसते हैं और कभी क्रोध से उसका भीषण तिरस्कार करते हैं। इतने पर भी जब उनका मन नहीं भरता है तो वे थक कर संतों को उपदेश देने लगते हैं। पर जो आग उनके मन में लगी हुई है वह रह-रहकर उभड़ ही पड़ती है। अन्य बातों का वर्णन करते-करते फिर उन्हें माया की याद आ जाती है। फिर पुरानी छिरी हुई

आग जल उठती है और कबीर भयानक स्वप्न देखने वाले की भाँति एक बार काँप कर क्रोध से न जाने क्या कहने लग जाते हैं।

कबीर ने माया की उत्पत्ति की बड़ी गहन विवेचना की है, उतनी शायद किसी ने कभी नहीं की। बीजक के आदि मंगल से यद्यपि यह विवेचना भिन्न है, तथापि कबीर पंथियों में यही प्रचलित है:—

प्रारम्भ में एक ही शक्ति थी, सारभूत एक आत्मा ही। उसमें न राग था न रोष। कोई विकार नहीं था। उस सारभूत आत्मा का नाम था सत्पु ष ! उस सत्पुरुष के हृदय में श्रुति का संचार हुआ और धीरे-धीरे श्रुतियाँ सात हो गयीं। साथ ही साथ इच्छा का आविर्भाव हुआ। उसी इच्छा से सत्पुरुष ने शून्य में एक विश्व की रचना की। उस विश्व के नियंत्रण के लिए उन्होंने छः ब्रह्माओं को उत्पन्न किया। उनके नाम थे :—

१. ओंकार, २. सहज, ३. इच्छा, ४. सोहम् ५. अचिन्त ६. अच्छर। सत्पुरुष ने उन्हें ऐसी शक्ति प्रदान कर दी थी, जिसके द्वारा वे अपने अपने लोक में उत्पत्ति के साधन और संचालन की योजना कर सकें। पर सत्पुरुष को अपने काम में बड़ी निराशा मिली। कोई भी ब्रह्मा अपने लोक का संचालन (सुचारु रूप से) भली-भाँति नहीं कर सका। सभी अपने कार्य में कुशलता न दिखला सके, अतएव उन्होंने एक युक्ति सोची।

चारों ओर प्रशांत सागर था। अनन्त जल राशि थी। एकांत में मौन होकर अच्छर बैठा था। सत्पु ष ने उसकी आँखों में नींद का एक झोंका ला दिया। वह नींद में झूमने लगा। धीरे-धीरे वह शिशु के समान गहरी निद्रा में निमग्न हो गया। जब उसकी आँख खुली तो उसने देखा कि उस अनन्त जल-राशि के ऊपर एक अंडा तैर रहा है। वह बड़ी देर तक उसकी ओर देखता रहा। एकटक उस पर दृष्टि जमाये रहा। उस दृष्टि में बड़ी शक्ति थी। एक बड़ा भारी शब्द हुआ वह अंडा फूट गया। उसमें एक बड़ा भयानक पुरुष निकला, उसका नाम रक्खा गया निरञ्जन। यद्यपि निरञ्जन उद्धत स्वभाव का था, पर

उसने सत्पुरुष की बड़ी भक्ति की। उस भक्ति के बलपर उसने सत्पुरुष से यह वरदान माँगा कि उसे तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त हो।

इतना सब होने पर भी निरंजन मनुष्य की उत्पत्ति न कर सका। इससे उसे बड़ी निराशा हुई। उसने फिर सत्पुरुष की आराधना कर एक स्त्री की याचना की। सत्पुरुष ने यह याचना स्वीकार कर एक स्त्री की सृष्टि की। वह स्त्री सत्पुरुष पर ही मोहित हो गयी और सदैव उसकी सेवा में रहने लगी। उसे बार-बार कहा गया कि वह निरंजन के समीप जाय पर फल सदैव विपरीत रहा। वह निरन्तर सत्पुरुष की ओर ही आकृष्ट थी। निरञ्जन के अपरिमित प्रयत्नों के बाद उस स्त्री ने निरञ्जन के पास जाना स्वीकार किया। उससे कुछ समय के बाद तीन पुत्र उत्पन्न हुए:—

१. ब्रह्मा २. विष्णु ३. महेश।

पुत्रोत्पत्ति के बाद निरञ्जन अदृश्य हो गया केवल स्त्री ही बची, उस स्त्री का नाम था माया।

ब्रह्मा ने अपनी माँ से पूछा:—

के तोर पुरुष का करि तुम नारी ?

रमैनी ?

कौन तुम्हारा पुरुष है, तुम किसकी नारी हो ?

इसका उत्तर माया ने इस प्रकार दिया:—

हम तुम, तुम हम, और न कोई;
तुम मम पुरुष, हमहीं तोर जोई,

कितना अनुचित उत्तर था। माँ अपने पुत्र से कहती है, केवल हम ही तुम हैं, और तुम ही हम हो, हम दोनों के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। तुम्हीं मेरे पति हो और मैं ही तुम्हारी स्त्री हूँ।

इसी पद में कबीर ने संसार की माया का चित्र खींचा है। यही

संसार का निष्कर्ष है और कबीर को इसी से घृणा है। माँ स्वयं अपने मुख से अपने पुत्र की स्त्री बनती है। इसीलिए कबीर अपनी पहली रमैनी में कहते हैं:—

बाप पूत कै एकै नारी, एकै माय बिआय।

मातृ-पद को सुशोभित करने वाली वही नारी दूसरी बार उसी पुरुष के उपभोग की सामग्री बनती है। यह है संसार का ओछा और वासना-पूर्ण कौतुक। माता के पद को सुशोभित करने वाली स्त्री उसी पुरुष जाति की अंक-शायनी बनती है। कितना कलुषित सम्बन्ध है। इसीलिए कबीर इस संसार से घृणा करते हैं। वे अपने छठवें शब्द में कहते हैं:—

सन्तो अचरज एक भौ भारी।
पुत्र धरल महतारी॥

सत्पुरुष की वही उत्कृष्ट विभूति जो एक बार गौरव-पूर्ण महान् पवित्र तथा संसार की सारी उज्ज्वल शक्तियों से विभूषित होकर माता बनने आयी थी, दूसरे ही क्षण संसार की वासना की वस्तु बन जाती है! संसार की यह वासनामयी प्रवृत्ति क्या कम हेय है? कबीर को यही संसार का व्यापार घृणा-पूर्ण दीख पड़ता था!

माया के इस घृणित उत्तर से ब्रह्मा को विश्वास नहीं हुआ। वह निरञ्जन की खोज में चल पड़ा।

माया ने एक पुत्री का निर्माण कर उसे ब्रह्मा के लौटाने के लिए भेजा, पर ब्रह्मा ने यही उत्तर भिजवा दिया कि मैंने अपने पिता को खोज लिया है और उनके दर्शन पा लिये हैं। उन्होंने यही कहा है कि तुमने (माया ने) जो कुछ कहा है, वह असत्य है और इस असत्य के दंडस्वरूप तुम कभी स्थिर न रह सकोगी।

इसके पश्चात् ब्रह्मा ने एक सृष्टिकी रचना की, जिसमें चार प्रकार की जीवों की उत्पत्ति हुई।

१. अंडज २. पिंडज ३. स्वदेज ४. उद्भिज।

सारी सृष्टि ब्रह्मा, विष्णु और महेश का पूजन करने लगी और माया का तिरस्कार होने लगा। माया इसे सहन न कर सकी। जब उसने देखा कि मेरे पुत्र मेरा तिरस्कार करा रहे हैं तो उसने तीन पुत्रियों को उत्पन्न किया जिनसे ३६ रागनियाँ और ६३ स्वर निकल कर संसार को मोह में आबद्ध करने लगे। सारा संसार माया के सागर में तैरने लगा और सभी ओर मोह और पाखंड का प्रभुत्व दीखने लगा। सन्त लोग इसे सहन न कर सके और उन्होंने सत्पुरुष से इस कष्ट के निवारण करने की याचना की। सत्पुरुष ने इस अवसर पर एक व्यक्ति को भेजा जो संसार को माया-जाल से हटाकर एक सत्पुरुष की ओर ही आकर्षित करे। इस व्यक्ति का नाम था——

कबीर

विश्व-निर्माण के विषय में इसी धारणा को कबीर-पंथी मानते हैं। कबीर स्वयं इसे स्वीकार करते ह कि वे सत्पुरुष द्वारा भेजे गये हैं और सत्पुरुष ने अपने सारे गुणों को कबीर में स्थापित कर दिया है। इसके अनुसार कबीर अपने और सत्पुरुष में कोई भेद नहीं मानते। कबीर के रहस्यवाद की विवेचना में हम इस विषय का निरूपण कर ही आये हैं।

'रमैनी' और 'शब्दों' को आद्योपांत पढ़ जाने के वाद हम ठीक विवेचन कर सकते हैं कि कबीर माया का किस प्रकार बहिष्कार या तिरस्कार करते हैं।

वे माया का अस्तित्व तीनों लोकों में देखते है।

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।

कबीर--(हजारी प्रसाद द्विवेदी)

अवधू--

साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान विवर्तित पहुँचे

हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। (किन्तु) वस्तुतः जब कबीरदास अवधूत को पुकारते हैं तो इन सिद्धाचार्यों के अवधूत से उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता। जिस 'जगथै न्यारे' अवधूत की चर्चा है वह गोरखपंथी सिद्ध योगी है। कई जगह तो कबीर ने स्पष्ट ही गोरखनाथ को अवधू कहा है। ऊपर जिस विलक्षण योगेश्वर अवधूत की चर्चा की गयी है उसके लक्षण गोरखपंथी कनफटे योगियों के विषय में ही पूरे उतरते हैं। ये ही लोग कान में छिद्र करके वह कुंडल धारण करते हैं जिसे मुद्रा या 'दर्शन' कहते हैं, ये ही तो तीन अंगुल की काली (काले) सींग की छोटी-सी सीटी गले में धारण करते हैं जिसे 'नाद (श्रृंगीनाद) कहते हैं और जो सेली नामक काले ऊनी धागों से गुंथा होता है। इनके हाथ में नारियल का एक खप्पर होता है। ये लोग गे आ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुंड धारण करते हैं। इन्हीं योगियों को लक्ष्य करके कबीरदास ने जो कुछ कहा है उसका भाव यह है कि असली योगी वह नहीं है, जो इन वाह्य वेशों को धारण करता है। असली तो वह है जो इन बाह्य वेशों की कोई परवा नहीं करता, जो मन ही में मुद्रा और खप्पर धारण करता है, मन ही में आसन लगाता है, मन ही में सींगी बजाता है, जो भीतर से योग रस से परिपक्व हो गया है।

इस प्रकार कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।

समतत्ववाद

अवधूत गीता में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं, कुछ लोग द्वैत को, पर इन दोनों से परे द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व को कोई नहीं जानता। यह समतत्व कहलाता है। यही कबीर का द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्ववाद है। नाथपंथी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैत

विलक्षण समतत्ववाद का समर्थन करते हैं। इस विषय में कबीरदास का उनसे सीधा संबंध है।

नाद, बिन्दु और सत्यपुरुष

निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही बिन्दु है? इस नाद और बिन्दु से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त विशेषता हीन नाद और बिन्दु का ही ग्रहण होना चाहिए, इसी बात को समझाने के लिए इन्हें परमनाद और परम बिन्दु कहा जाता है। कभी-कभी लोग परमनाद और परम बिन्दु भी कह देते हैं। इन्हीं से उपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं अर्थात् अपरनाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया। इन्हीं से क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु की उत्पत्ति होती है। यह जो (पर) नाद से (पर) बिन्दु उत्पन्न हुआ और फिर इस (पर) बिन्दु से (अपर) नाद और (अपर) बिन्दु उत्पन्न हुआ, वही उस भूलभूलैया वाले प्रश्न के मूल में है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि बिन्दु। इस प्रकार तन्त्र का निर्गुण शिव कबीर के सत्पुरुष के बराबर है। सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्याशक्ति है। नाद ही स्वसम्वेद्य यानी कबीरदास की वाणियों के निर्मलवेद के समान है।

हठयोग——कबीरदास को समझने के लिए नाथपंथ की साधना-पद्धति की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। इनके सिद्धान्तानुसार महा-कुण्डलिनी नामक एक शक्ति है, जो सारी सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहते हैं, जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात्

या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते होते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी को ठीक ठीक समझने के लिये शरीर की बनावट की कल्पना करनी चाहिये। पीठ में स्थित मेरु-दण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है वहाँ एक स्वयम्भूलिंग है जो एक त्रिकोणचक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयम्भूलिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इस चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत् चक्र है ये दोनों क्रमशः दस या बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धा-चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रों के भेद करने के बाद मस्तक में शून्य चक्र मिलता है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गई है उसमें सहस्रदल है, इसीलिये इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। शून्य चक्र ही गगन मंडल है इसी को कैलास भी कहते हैं। कबीरदास ने कभी-कभी जब इसी शरीर में कैलास के उपस्थित रहने की बात कही है तो उनका मतलब सहस्रार चक्र से ही रहता है। बताया गया है कि संत मत में इस सहस्रार चक्र के भी ऊपर एक अष्टम चक्र सुरतिकमल की कल्पना की गई है। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगी का चित्त व्युत्थान काल में अर्थात् समाधि टूटने के बाद फिर वासना का शिकार हो जाता है पर सुरति कमल में विलास करने वाले संत का चित्त ऐसे खतरे से निश्चिन्त रहता है।

अब मेरुदण्ड में प्राणवायु को वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमें से

कुछ का आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बाईं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। मौजी कबीर ने अनुप्रास मिलाने के लिये इनकी जोड़ी का नाम 'इंगला पिंगला' बना दिया था। ये दोनों ही बारी-बारी से चलती रहती हैं। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है असल में सुषुम्ना के भीतर की कई सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म नाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्ति का असल मार्ग है। इस प्रकार सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाड़ियों का एकीभाव है। हिसाब से इड़ा, पिंगला और ये तीन नाड़ियाँ मिलकर पाँच होती हैं। इसीलिये इनको 'वचस्रोत्तः' या 'पाँच धारायें' कहने की भी प्रथा है। परन्तु व्यवहारतः इडा, पिंगला, सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों की ही चर्चा आती है। इन्हीं तीन नाड़ियों को सिद्धाचार्यों ने 'ललना-रसना-अवधूती' कहा है। अवधूती अर्थात् सुषुम्ना। क्योंकि, जैसा कि 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा है वैसे तो शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं; पर एक मात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, बाकी नाड़ियाँ बेकार ही हैं। कबीरदास के विद्यार्थी को अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि इड़ा या इंगला ही 'गंगा' है, पिंगला ही 'यमुना' है सुषुम्ना ही 'सरस्वती' है। इन तीनों का जहाँ ब्रह्मरंध्र में संगम हुआ है, वहीं त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी-कभी शिव-संहिता आदि हठयोग के ग्रंथों की भाँति इसी त्रिवेणी में स्नान करने का विधान करते हैं। कबीर की उलटवासियों और योगात्मक रूपकों की कुंजी के समान इन सांकेतिक शब्दों को नहीं भूलना चाहिये।

साधक नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर या ऊर्ध्व मुख उद्बुद्ध करता है। साधारण मनुष्यों में यह कुण्डलिनी अधोमुख रहती है। इसीलिए वह काम क्रोध का क्रीतदास बना रहता है। कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। 'नाद' से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त

रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग उन्हीं को कभी सूर्य्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु है वह असल में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे नाद और बिन्दु भी कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर (इस श्वासों की संख्या दिन रात चौबीस घंटों में २१,६०० होती है) निरन्तर इड़ा और पिंगला के मार्ग में चल रहा है। सुषुम्ना का पथ प्रायः बन्द है। यही कारण है कि बद्ध जीव के इन्द्रिय और मन की वृत्ति बहिर्मुख है। जो अखंड नाद जगत के अन्तस्तल में और निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया विशेष से सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है। अनुभवी लोगों ने बताया है कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्र गर्जन, मेघ-गर्जन और भेरी झर्झर आदि का सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटे की हलकी-सी आवाज सुनाई देती है और अन्त में किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। जिस प्रकार मकरन्दपान में मत्त भौंरा गन्ध की ओर ताकता भी नहीं उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है, वह दुनिया के किसी और विषय की परवाह भी नहीं करता।

कबीरदास की उलटवासियों में विद्यार्थी के कुछ काम की चीज खेचरी मुद्रा है। इसमें योगी जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करता है, और उसकी दृष्टि भ्रुवों में (भौंहों में) निबद्ध होती है। बड़ी साधना और आयास के बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है पर एक बार यदि आधे क्षण के लिये भी प्राप्त हो गई अर्थात् योगी अपनी जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपाल

कुहर में स्थिर कर सका तो समस्त विषयों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है। इसी मुद्रा का विशेष रूप व्योमचक्र भी कहलाता है। ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है वही चन्द्रमा का स्थान है। इसमें से सदा अमृत झरता रहता है, यही अमृत सोम-रस है। इसको पान कर सकने वाला योगी अमर हो जाता है।

कबीर धर्म गुरु थे। इसलिये उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिये, परन्तु, विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है, समाज-सुधार के रूप में, सर्वधर्म समन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है।

भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकहकहा को भी रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर—पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्त्तिमान् कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझे तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और

काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मोलवी। सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था, यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टायें व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझ कर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिये कि यह कवि रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक

ऐसे विराट और आनन्दमय लोक की बात करते रहते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने वसन्त रहता है और निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है, फिर भी, जैसा कि एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनंदिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं—(१) सादगी और सहज भाव पर निरन्तर जोर देते रहना, (२) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना और (३) सब प्रकार के विरागभाव और हेतु प्रकृति-गत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखनेवाली बातों को दुर्बोध और महान् बना देने की चेष्टा के प्रति वैर-भाव। इसीलिये वे साधारण मनुष्य के लिये दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखाई देते हैं, कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिये उनके सन्त स्वरूप के साथ ही उनका कविरूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टि वादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिये जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह

वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्य-मात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु आजकल सर्व-धर्म-समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़े से बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हों या उच्च से उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचार हीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेम-भक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्य-मात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी, विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग संप्रदाय-विशेष के प्रवर्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं।

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल स्वरूप को भूलकर उसके एक देश-मात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं

की खिल्ली ही उड़ाई है जिससे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं, तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु पर से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषधि का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं वाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊंच नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचार-वर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे यदि उनकी बात सुननेवाला कोई न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकारकर कह उठते, 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कह-

कर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदास ने इस बात को हजार तरह से कहा है। इस भक्ति या भगवान् के प्रति अहैतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं है पर भक्ति का अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसीलिये केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिये उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्य-शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है, बाई प्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें घमण्डी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है, वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में,—स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति—अपने और अपने प्रिय के प्रति अखण्ड विश्वास की परिचायक है, जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है, वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान् के प्रति भक्त का अनन्य परायण आत्मार्पण होती है, और जो बातें लोक में परस्पर-विरुद्ध जँचती हैं, भगवान् के विषय में उनका

विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षु-रहित बना रह कर भी सब कुछ देख सकता हो, वाणी हीन होकर भी वक्ता हो सकता हो; जो छोटे से छोटा भी हो और बड़े से बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय भी; जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुण हीनता का भी; और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का; परन्तु भगवान् के लिये ये सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव-द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैं पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहि-सगुणहि नहिं कछु भेदा' ! (तुलसीदास)। परन्तु तर्क परायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को बदतोव्याघात कहकर संतोष कर लेता है। यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निःसन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान् के अनिर्वचनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशन-क्षेत्र के बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर विरोधी और अविरोधी शब्दों के द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है।

भक्ति-तत्व की व्याख्या करते करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़-प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्व की उपलब्धि में बाधक हैं। यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकट का माल या बाई प्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रांतिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बात का निर्देश देते हैं। ऊपर ऊपर सतह पर चक्कर काटने वाले समुद्र भले ही पार कर जायँ पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटने वालों से विशेष नहीं समझता।

'कबीर' एण्ड दि कबीर पंथ—श्री वेस्कट

"खजीनतुल अस्फिया" में कहा गया है कि शेख कबीर जोलाहा, शेख तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे। वह अपने समय के महापुरुष और ईश्वर-वादियों के नेता थे। उन्होंने सूफियों के विसाल (ईश्वर-मिलन) नामक सिद्धान्त की शिक्षा दी और फिराक (वियोग) के संबंध में चुप रहे। यह भी कहा जाता है कि वे पहले मनुष्य हैं जिन्होंने परमेश्वर और उसकी सत्ता के विषय में हिन्दी में लिखा। धार्मिक सहनशीलता के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही उन्हें अपना नेता माना। हिन्दुओं ने उन्हें भगत कबीर और मुसलमानों ने पीर कबीर कहा।

संस्कृत के नामी विद्वान् विलसन साहब कहते हैं कि यह बात विचार विरुद्ध है कि कबीर एक मुसलमान थे, यद्यपि यह असंभव नहीं है।

हमने संभवतः पूरी तौर पर इस बात को सिद्ध कर दिया है कि यह असंभव नहीं है कि कबीर मुसलमान और सूफी दोनों रहे हों।

फारसी की एक तवारीख दबिस्ताँ में मुहसिन फनी कश्मीर वाला, जो अकबर के समय में था, लिखता है—कबीर जोलाहे और एकेश्वरवादी

थे। कोई आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन मिले, इस इच्छा से वे हिन्दू साधुओं और मुसलमान फकीरों दोनों के पास गए; और अन्त में जैसा कहा गया है रामानन्द के शिष्य हुए।

ज्ञात यह होता है कबीर की शिक्षाएँ मौखिक थीं और वे उनके पीछे लिखी गई। सबसे पुराने ग्रन्थ, जिनमें उनकी शिक्षाएँ लिखी गई बीजक और आदि ग्रंथ हैं।

यह विचारना कठिन है कि (वे कबीर की वाणी) ठीक उन्हीं शब्दों में लिखी गई हैं, जो गुरु के मुख से निकले हैं और यह बात तो और भी कठिनता से मानी जा सकती है कि उनमें और शब्द नहीं मिला दिये गए हैं। कम से कम यह बात मानने के लिये हमको कोई स्वत्व नहीं है कि कबीर की शिक्षा वही शिक्षा है कि जिसको कबीर पंथ के महंत आजकल देते हैं।

कबीर साहब का विचार है कि दो अक्षर का शब्द राम इस संसार में उस एक अनिर्वचनीय सत्य का सबसे अधिक निकटवर्ती है।

साधारणतः यह बात मान ली गई है कि समस्त बड़े हिन्दू संस्कारकों में कबीर और तुलसीदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान की अशिक्षित जातियों में स्थायी रूप से है, सर विलियम हटर ने बहुत उचित रीति से कबीरदास को पंद्रहवीं शताब्दी का भारतीय लूथर कहा है।

कबीर की शिक्षा में हिन्दू और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है।

कबीर-संग्रह

दुलहिनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती।
राम देव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैंमाती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार।।
सुर तेतीसूं कौतिग आए, मुनियर सहस अठयासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी ।।१।।

तोरी गठरी में लागे चोर!
बटोहिया काहे सोवै ।।
पांच पचीस तीन हैं चुरवा।
यह सब कीन्हा सोर ।।
बटोहिया काहे सोवै।
जागु सवेरा बाटु अनेड़ा।
फिर नहिं लागे जोर
बटोहिया काहे सोवै ।।
भवसागर इक नदी बहतु है।
बिन उतरे जाव बोर ।।
बटोहिया काहे सोवै ।।
कहैं कबीर सुनो भाइ साधो ।।
जागत कीजे भोर।
बटोहिया काहे सोवै ।।२।।

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।।टेक।।
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।।
तलि करि साषा उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै।।३।।

संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निस दिन ब्यापै, कोइ न कहै समझाई।।टेक।।
नहीं ब्रह्मांड प्यंड पुनि नांहीं, पंचतत भी नांहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुण कहां समांहीं।।
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियाँ, रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा संगि, ये गुण तहाँ समांहीं।।
तूटै बँधै बँधै पुनि तूटै, जब जब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा।।
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमाना।
सीखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहिं पदहि समांना।।४।।

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।।टेक।।
सनक सनन्दन जै दवनांमां, भगति करी मन उनहुँ न जानां।
सिव विरंचि नारद मुनि ज्ञानी, मन की गति उनहूँ नहिं जानीं।।
ध्रु प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहुँ न देखा।
ता मन का कोइ जानैं भेव, रंचक लीन भया सुषदेव।।
गोरष भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करैं अनन्दा।
अलक निरंजन सकल सरीरा, तन मन सौं मिलि रह्या कबीरा।।५।।

भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बारबार कासों कहिए।
भानग घड़ग संवांरण संम्रथ, ज्यूँ राषै त्यूँ रहिए।।टेक।।

आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छयानबै पाषंड, आकुल किनहूँ न जानां॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जेतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समाना॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा॥६॥

अच्यंत च्यंत ए माधौ, सो सब मांहि समाना।
ताहि छाड़ि जे आन भजन हैं, ते सब भ्रंमि भुलांनां॥टेक॥
ईस कहै मैं ध्यांन न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि कैसौ, नांव धरण को तोहीं॥
कहौ धौं सबद कहाँ थैं आवै, अरु फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यंड़ै मुकति कहां ले कीजै, जो पद मुकति न होई।
थोड़े मुकति कहत हैं मुनि जन, सबद अतीत था सोई॥
परगट गुपत गुपत पुनि परगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमांनंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥७॥

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यांनी होई॥टेक॥
जैसे अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन विचार॥
देही माटी बोलै पवना, बूझि रे ग्यानी मूवा स कौंनां।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मूवा जो बोलणहार॥
जिस कारनि तटि तीरथ जांहिं, रतन पदारथ घट ही मांहीं।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषाणैं, भीतरि हूती बसत न जाणैं॥
हूँ न मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्यौ समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जीता नजरि न आया॥८॥

हमारे राम रहीम करीमा केसो, अलह रांम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।टेक।।
इनकै काजी मुलां पीर पैगंबर, रोजा पछिम निवाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।
तुरक मसीति देहु रै हिन्दू, दहूँठां रांम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांहीं, तहाँ काकी ठकुराई।।
हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित, पूरि रह्या राम राई।।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।।९।।

अवधू जोगी जग थैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा।।टेक।।
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चोकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहिं छाड़ै, पीवे महारस मीठा।।
परगट कँथां मांहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।
सहँस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै।।
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।।१०।।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढया मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।।टेक।।
गड़ करि ग्यान ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा।।
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महारस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी।।

सुनि मण्डल मैं मंदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अंमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै।।
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यौ, तन कीं तपति बुझानीं।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानीं।।११।।

बोलौ भाई राम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई।।टेक।।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुगतारी।।
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई।।
पंच जने सो संग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।।
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीरा इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई।।१२।।

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना।।टेक।।
माटीं खोदहिं भींत उसारै, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बांधि लै चालै, बहुरि न करिहै फेरा।।
खोट कपट करि यहु धन जोर्‌यौ, लै धरती मैं गाड़्यो।
रोक्यौ घटि साँस नहीं निकसै, ठौर ठौर सब छोड़्यो।।
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पवनियाँ उझरी बाजी, को काहू कै आवै।।१३।।
सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन मैं, कबहूँ क खता खवाई।।टेक।।

या मंजारी मुगध न मानैं, सब दुनियां डहकाई।
राणां राव रंक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनांई।
लाषौं मांहि तैं लेत अचांनक, काहू न देत दिखाई॥१४॥

अब मैं जांणिबौ रे केवल राइ की कहांणी।
मंझा जोति रांम प्रकासै, गुरु गंमि बाणी॥टेक॥
तरवर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछांड़ीं।
साखा पेड़ फूल फल नांहीं, ताकी अमृत बाणीं॥
पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया॥
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जलहर सोष्या।
कहै कबीर तास चेला, जिनि यहु तरवर पेष्या॥१५॥

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूँ भव बन्धन षूटै।
जुरा मरन दुख फेरि करन सुख, जीव जनम थैं छूटै॥टेक॥
सतगुर चरन लागि यौं बिनऊँ, जीवनि कहाँ थैं पाई।
जा कारनि हम उपजैं बिनसैं, क्यूँ न कहौ समझाई॥
आसा पास षंड नहीं पाड़ैं, यौं मन सुंनि न लूटै।
आपा पर आनन्द न बूझै, बिन अनभै क्यूँ छूटै॥
कह्यां न उपजै उपज्यां नहीं जांणैं, भाव अभाव बिहूनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नांहीं, सहजि रांम ल्यौ लीनां॥
ज्यूँ बिंबहि प्रतिबिंब समाना, उदिक कुम्भ बिगरांनां।
कहै कबीरा जांनि भ्रम भागा, जीवहि जीव समांनां॥१६॥

चरखा जिन जरै।
कातौंगी हजरी का सूत नणद के भइया की सौं॥

जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर में आप।
एक अचम्भा देखिया बिटिया जायौ बाप॥
बावल मेरा ब्याह करि बर उत्यम ले चाहि।
जब लग बर पावै नहि तब लग तूहि व्याहि॥
सुवधी कै घर लुबधी आयो आन बहू के भाई।
चूल्है अगनि बताइ करि, फल सौं दियो ठठाइ॥
सब जग ही मरि जाइयौ एक बढ़इया जिनि मरै।
सब राँडिनी को साथ चरखा को धरै॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता जो या पदहिं बिचारै।
पहलै परचै गुर मिलै तो पीछे सतगुर तारै॥१७॥

जंत्री जंत्र अनुपम बाजै, ताका सबद गगन मैं ताजै॥टेक॥
सुर की नालि सुरति का तूंबा, सतगुर साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूँ न पाया॥
जिभ्या तांति नासिका करहीं, माया का मैंण लगाया।
गमां बतीस मोरणां पांचौं, नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बाजै।
कहै कबीर सोई जन सांचा, जंत्री सूँ प्रीति लगावै॥१८॥

अवधू नादे ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूंढत बन बन डोलै॥टेक॥
सालिगरांम तजौं सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोडि नीर मुकलांऊँ, कुंवा सिला दे पाटौं॥
चन्द सूर दोइ तूंबा करिहूँ, चित्त चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी॥
परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि षंडूं मीच बिहडूं, बहुरि न करिहूँ फेरा॥

जपौ न जाप हतौं नहीं गूगल, पुस्तक ले न पढ़ांऊं।
कहै कबीर परम पद पाया, नहीं आंऊं नहीं जाऊं।।१९।।

ऐसी रे अवधू की बांणी,
ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणीं।।टेक।।
जब लग गगन जोति नहीं पलटै,
अबिनासी सूँ चित नहीं चिहुटै।
जब लग भँवर गुफा नहीं जांनै,
तौ मेरा मन कैसे मांनै।
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं,
ससिहर कै घरि सूर न आनैं।
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै,
तौ हीरै हीरा कैसें बेधै।
सोलह कला संपूरण छाजा,
अनहद कै घरि बाजैं बाजा।
सुषमन कै घरि भया अनन्दा,
उलटि कवल भेटे गोव्यंदा।
मन पवन जब परचा भया,
ज्यूँ नाले रांषी रस मइया।
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी,
औघट घाट सींचि ले क्यारी।।२०।।

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ ।
ज्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ।।टेक।।
तत करि तांति धर्म करिं डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन कर निहचल आसंण निहचल, रसनां रस उपजाइ।।

चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाखंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ।।
हिरदैं सींगीं ग्यांन गुंणि बांधौ, खोजि निरंजन सांचा।।
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिना प्यंड कांचा।।२१।।

अब न बसूँ इहिं गांइ गुसांई,
तेरे नेवगी खरे सयांने हो रांम।।टेक।।
नगर एक तहां जीव धरम हता, बसैं जु पंच किसांना।
नैंनूं निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्री कह्या न मांनै हो रांम।।
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो रांम।।
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।।
बुरो दीवांन दादि नहीं लागै, इक बांधै इक मारै हो रांम।।
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसांनां भाजि गये हैं,जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम।।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ, हरि भजि बाँधौ भेरा।
अब की बेर बकसि बन्दे कौं सब खत करौं नबेरा।।२२।।

घूँघट का पट खोल रे।।टेक।।
तोको पीव मिलैंगे।।
घटघट में वोहि साईं रमता।
कटुक बचन मत बोल रे।।
धन जोबन का गर्व न कीजै।
झूठा पचरंग चोल रे।।
सुन्न महल में दिया बार ले।
आसा से मत डोल रे।।

जोग जुगुत से रंग महल में।
पिय पाये अनमोल रे॥
कहत कबीर आनन्द भयौ है।
बाजत अनहद ढोल रे॥२३॥

नैहर में दाग लगाय आई चूनरी ॥टेक॥
ऊ रंगरेजवा कै मरम न जानै!
नहिं मिलै धोबिया कवन करें उजरी॥
तन कै कूँडी ज्ञान सउंदन।
साबुन महँग बिकाय या नगरी॥
पहिरि ओढ़ि कै चली ससुरिया।
गौवां के लोग कहैं बड़ी फुहरी॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो।
बिन सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी ॥२४॥

मोरी चुनरी में परिगयो दाग पिया ॥टेक॥
पंच तत्त कै बनी चुनरिया,
सोरह से बन्द लागे जिया॥
यह चुनरी मोरे मैके ते आई,
ससुरे में मनुवा खोय दिया॥
मलिमलि धोई दाग न छूटै,
ज्ञान को साबुन लाय पिया॥
कहत कबीर दाग तब छुटिहै,
जब साहब अपनाय लिया॥२५॥

सतगुर हैं रंगरेज चुनर मोरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे

दियौ मजीठा रंग।
धोये से छूटै नहीं रे।
दिन दिन होत सुरंग।।
भाव के कुंड नेह के जल में
प्रेम रंग दई बोर।
चसयी चास लगाई के रे
खूब रंगी झकझोर।।
सतगुर ने चुनरी रंगी रे
सतगुर चतुर सुजान।
सब कछु उन पर वार दूँ रे
तन मन धन औ प्रान।।
कह कबीर रंगरेज गुरु तो
मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी औढ़ के रे
भइ हौं मगन निहाल।। २६।।
झीनी झीनी बीनी चदरिया ।।टेक।।
काहे क ताना काहे क भरनी।
कौन तार से बीनी चदरिया।।
इंगला पिंगला ताना भरनी।
सुषमन तार से बीनी चदरिया।।
आठ कमल दल चरखा डोलै।
पांच तत्व गुन तीनी चदरिया।।
सांई को सियत मास दस लागे।
ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी।
ओढ़ के मैली कीनी चदरिया।।

दास कबीर जतन सौं ओढ़ी।
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥२७॥

मोको कहाँ ढूँढै बन्दे,
मैं तो तेरे पास में।
ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी,
ना मैं छुरी गड़ास में॥
नहीं खाल में नहीं पोंछ में,
ना हड्डी ना मांस में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद,
ना काबे कैलास में॥
ना तौ कौनो क्रिया कर्म में,
नहीं जोग बैराग में।
खोजी होय तुरंतै मिलिहौं,
पल भर की तलास में॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर,
मेरी पुरी मवास में॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
सब साँसों की सांस में॥२८॥

मैं सासरे पीव गौंहनि आई।
साईं संगि साध नहिं पूगी, गयो जोवन सुपिनां की नाईं ॥टेक॥
पंच जना मिलि मंडप छायो, तीनि जना मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथे हलद चढ़ाई॥
नांना रंगै भाँवरि फेरी, गांठ जोरि बावै पति ताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई॥

अपने पुरिष मुख कबहू न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरि हूँ तिरौं कंत ले तूर बजाई ॥२९॥

सेजैं रहूँ नैन नहीं देखौं,
यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल ॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सुहेली गरब गहेली, देवर कै बिरह जरौ हो दयाल ॥
बाप सावकौ करै लराई, माया सद मतवाली।
सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारो ॥
सोच विचारि देखौ मन मांहीं, औसर आइ बन्यूँ रे।
कहै कबीर सुनहुँ मति सुन्दरि, राजा रांम रमूँ रे ॥३०॥

अलह रांम जीऊँ तेरे नांई,
बन्दे ऊपरि मिहर करौ मेरे सांई ॥टेक॥
क्या ले माटी भुँइ मूँ मारैं, क्या जल देह न्हवायें।
जोर करै मसकीन सतावै, गुंन हीं रहै छिपायें ॥
क्या तु जू जप मंजन कीयें, क्या मसीति सिर नायें।
रोजा करैं निमाज गुजारैं, क्या हज काबै जांयें ॥
बांम्हण ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी मरहम जांन।
ग्यारह मास जुदे क्यूँ कीये, एकहि मांहि समांन ॥
जोर खुदाई मसीति बसत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु मैं किनहूँ न हेरा ॥
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकामां।
दिल हो खोजि दिलै दिल भींतरि, इहां रांम रहिमानां ॥
जेती औरति मरदां कहिए, सब मैं रूप तुम्हारा।
कबीर पंगुडा अलह रांम का, हरि गुर पीर हमारा ॥३१॥

हरि कौ नाव न लेह गंवारा, क्या सोचै बारंबारा ॥टेक॥
पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटैं दिवस और संझा।
जौ गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि न सके कोई॥
अँधियारे दीपक चाहिए, तब बस्त अगोचर लहिए।
जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक दिया रह्या समाई॥
जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन मंजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई॥
का पढ़िये का गुनियें, का बेद पुराना सुनियें॥
पढ़े गुनें पति होई, मैं सहजैं पाया सोई॥
कहै कबीर मैं जांनां, मैं जांनां मन पतियाना।
पतियाना जौ न पतीजै, तौ अंधेकूँ का कीजै ॥३२॥

रांम राइ को ऐसा बैरागी,
हरि भजि मगन रहै विष त्यागी ॥टेक॥
ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नाव कुलाल धराया।
बहुबिधि भांडै, उनहीं घडियां, प्रभु का अन्त न पाया॥
तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा।
भौजलि भूलि रह्यो रे प्रांणी, सो फल कदे न चाखा॥
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी।
माटी का तन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ॥३३॥

इहि विधि राम सूं ल्यौ लाइ।
चरन पाषैं निरति करि, जिभ्या बिनां गुंण गाइ ॥टेक॥
जहाँ स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ॥
जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द सूरज मेल।
दोइ मिलि तहां जुड़न लागे, करत हंसा केलि॥

एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ॥
जहाँ बिछटयौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठौ जाइ।
जन कबीर बटाऊबा, जिनि मारग लियौ गाइ॥३४॥

भाई रे सकहु त तनि बुनि लेहु रे,
पीछै रांमहिं दोस न देहु रे॥टेक॥
करगहि एक बिनांनी, ता भीतरि पंच परांनी॥
तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी।
जे तूँ चौसठि बरियां धावा, नहीं होइ पंच सूँ मिलावा॥
जे तैं पांसे छसै तांणी, तौ तूँ सुख सूं रहै परांणी।
पहली तणियां तांणां, पीछै बुणियां बांणां॥
तणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब रांम राइ पूरा दीन्हां।
राछ भरत भई संझा, तारुणीं त्रिया मन बंधा।
कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हमारी॥३५॥

चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे।
नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि कौ बेढ़ौ रे॥टेक॥
जे जारे तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वांन काग कौ भाखिन, तामैं कहा भलाई॥
फूटै नैंन हिरदै नहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनीं।
माया मोह ममिता सूँ बांध्यौ, बूड़ि मुवौ बिन पानी॥
वारू के घरवा मैं बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगति बिन, बूड़े बहुत सयाना॥३६॥

भयौ रे मन पांहुनड़ौ दिन चारि।
आजिक काल्हिक माँहि चलैगौ, ले किन हाथ सँवारि॥टेक॥

सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह।
यहु संसार इसौ रे प्रांणी, जैसो धूंवरि मेह॥
तन धन जोबन अंजुरी कौ पानी, जात न लागै बार।
सैंबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गंवार॥
खोटी खाटै खरा न लीया, कछू न जांनीं सांटि।
कहै कबीर कछू बनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाटि॥३७॥

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहूँ नहीं नेरा॥टेक॥
राखूँ ब्रत न महरम जांनां, तिसहीं सुमिरूं जो रहै निदांनां।
पूजा करूं न निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं॥
ना हज जाऊं न तीरथ पूजा, एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा॥३८॥

क्यूँ लीजै गढ़ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड़ खाई॥टेक॥
कांम किवाड़ दुख सुख दरवांनीं, पाप पुंनि दरवाजा।
क्रोध प्रधान लोभ बड़ दूंदर, मन मैं वासी राजा॥
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबधि कमांण चढ़ाई।
त्रिसना तोर रहै तन भींतरि, सुबधि हाथ नहीं आई॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया॥
सत संतोष ले करनै लागे, तोरे दस दरवाजा।
साथ संगति अरु गुर की कृपा थें, पकर्‌यौ गढ़ कौ राजा॥
भगवंत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अबिनासी॥३९॥

बार बार हरि का गुण गावै, गुर गमि भेद सहर का पावै॥टेक॥
आदित करै भगति आरम्भ, काया मन्दिर मनसा थंभ।

अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बन सहज मैं पाई ॥
सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तपै निसतरै।
बांणी रोक्यां रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार।
मंगलवार ल्यौ मांहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत।
घर छाड़ै जिनि बाहरि जाइ, नहीं तर खरौ रिसावै राइ ॥
बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मैं हरि का बास।
गुर गमि दोऊ एकसमि करै, उरध पंकज थैं सूधा धरै।
ब्रिसपति विषिया देइ बहाइ, तीनि देव एकै संगि लाइ।
तीनि नदी तहाँ त्रिकुटी मांहि, कुसमल धोवै अहनिसि न्हांहि ॥
सुक्र सुधा ले इहि ब्रत चढ़ै, अहनिसि आप आप सूँ लड़ै।
सुरषी पंच राखिये सबै, तौ दूजी दृष्टि न पैसे कबै ॥
थावर थिर करि घटि मैं सोइ, जोति दीवटी मेल्है जोइ।
बाहरि भीतरि भया प्रकास, तहां भया सकल करम का नास ॥
जब लग घट में दूजी आंण, तब लग महलि न पावैं जांण।
रमिता रांम सूँ लागै रंग, कहै कबीर ते निर्मल अंग ॥२०॥

सो जोगी जाकै सहज भाइ, अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध विषिया न बाद।
मन मुद्रा जाकै गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यांन ॥
मनहीं करन कौ करै सनांन, गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन।
काया कासी खोजै बास, तहाँ जोति सरूप भयौ परकास ॥
ग्यांन मेषली सहज भाइ, बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल कौ देइ बन्द, कहि कबीर थिर होइ कंद ॥४१॥

मेरौ हार हिरांनौ मैं लजाऊं, सास दुरासनि पीव डराऊं ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरौ राम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागै मोति ॥

पंच सखी मिलिहैं सुजानु, चलहु तजई ये त्रिवेणी न्हाइ।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नां जानूं हार किनहूँ लीन्ह॥
हार हिरानौं जल बिमल कीन्ह, मेरो आहि परोसिन हार लीन्ह।
तीनि लोक की जांनै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर॥४२॥

नहीं छाड़ों बाबा रांम रांम।
मोहि और पढ़न सूं कौन कांम॥टेक॥
प्रहलाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल-जाल, मेरी पाटी में लिखि दै श्रीगोपाल॥
तब सनांमुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ॥
तूं राम कहनकी छाड़ि बानि, बेगि छुड़ाऊँ मेरौ कह्यौ मांनि॥
मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिरिकौ कियौ प्रहार।
बांधि मारि भावै देह जारि, जे हूँ राम छाड़ौ ते मेरे गुरहि गारि॥
तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाई, तोहिं राखनहारौ मोहि बताई।
खंभा में प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मार्यौ नख बिदारि॥
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियो भगति भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबार्यौ अनेक बार॥४३॥

चलि चलि रे भंवरा कवल पास, भंवरी बोलै अति उदास॥टेक॥
तैं अनेक पुहुपकौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग।
हौं ज कहत तोसूँ बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार॥
दिना चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल।
या बनासपती मै लागैगी आगि, तब तूं जैहौ कहाँ भागि॥
पहुप पुरांने भये सूक, तब भंवरहि लागी अधिक भूख।
उड़्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि, तब भंवरी रूनी सीस कूटि॥

दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भंवरी ले चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मनकौ सुभाव, रांम भगति बिन जमकौ डाव ॥४४॥

जतन बिन मृगनि खेत उजारे ।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपनें अपनें रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे॥
बुधि मेरी किरषी गुर मेरौ बिझुका, आखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न दैहूँ, बरियां भली मंभारे ॥४५॥

लोका मतिके भोरा रे।
जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ॥टेक॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनमका लाहा।
ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा॥
रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा॥
कहै कबीर सुनहुं रे सन्तौ, भ्रंमि परै जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई॥४६॥

मन रे रांम सुमिरि, रांम सुमिरि, रांम सुमिरि, भाई।
रांम नांम सुमिरन बिनां, बूड़त है अधिकाई॥
दारा सुत गेह नेह, सम्पति अधिकाई।
यामैं कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई॥
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पारि गये, रांम नांम लीन्हां॥

स्वांन सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई।
रांम नांम अमृत छाड़ि, काहे विष खाई।।
तजि भरम करम बिधि न खेद, रांम नांम लेहीं।
जन कबीर गुर प्रसादि, रांम करि सनेहीं ।।४७।।

तूं पाक परमांनंदे।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गंदे ।।टेक।।
तुम्ह दरिया सबही दिल भींतरि, परमांनंद पियारे।
नैंक नजरि हम ऊपरि नांहीं, क्या कमिबखत हमारे।।
हिकमति करैं हलाल बिचारैं, आप कहावैं मोटे।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, सांई सेती खोटे।।
दांइम दूवा करद बजावैं, मैं क्या करूं भिखारी।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ।।४८।।

ऐसा ध्यान धरौ नरहरि, सबद अनाहद च्यंतन करी ।।टेक।।
पहली खोजौ पंचे बाइ, बाइ ब्यंद ले गगन समाइ।
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि।।
मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवला मांहि निरंजन बासै।
सतगुर संपुट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहां बतावै।।
सहज लछन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि।
पुहप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभवन धणीं ।।४९।।

आलह अलख निरंजन देव, किहि विधि करौं तुम्हारी सेव ।।टेक।।
बिस्न सोइ जाकौ बिस्तार, सोई क्रस्न जिनि कीयौ संसार।
गोब्यंद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै।।

अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई।
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जे एती करै।।
गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै।
सिध सोई जो साधे इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।।
सिध साधू पैकंबर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा।
अपरंपर का नांउ अनन्त, कहै कबीर सोई भगवंत।।५०।।

इहि बिधि सेविये श्री नरहरि, मन की दुबिध्या मन परहरी ।।टेक।।
जहाँ नहीं तहाँ कछू जांणि, जहाँ नहीं तहाँ लेहु पछांणि।
नांही देखि न जइये भागि, जहाँ नहीं तहाँ रहिये लागि।।
मन मंजन करि दसवैं द्वारि, गंगा जमुनां सन्धि बिचारि।
नादहि व्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहि ब्यंद मिलै गोब्यंद।।
देवी न देवा पूजा नहीं जाप, भाइ न बंध माइ नहीं बाप।
गुणातीत जस निरगुण आप, भ्रम जेवड़ी जग कीयौ साँप।।
तन नाहीं कब जब मन नांहि, मन परतीति ब्रह्म मन मांहि।
परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि वार न पार।।
कहै कबीर गुर परम गियांन, सुंनि मण्डल मैं धरौ धियांन।
प्यंड परें जीव जैहै जहाँ, जीवत ही लै राखौ तहाँ।।५१।।

एक अचम्भा ऐसा भया, करणीं थैं कारण मिटि गया।।टेक।।
करणी किया करम का नास, पावक मांहि पुहुप प्रकास।
पुहुप मांहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै।।
प्रगटी बास बासना धाइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खाइ।
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई।।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राहकौं गहै।।५२।।

ऐसा ग्यांन बिचारि रे मनां।
हरि किन सुमिरै दुखभंजना ॥टेक॥
जब लग मैं मैं मेरी करै, तब लग काज एक नहीं सरै।
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज संवारै आइ॥
जब लग स्यंघ रहै बन मांहि, तब लग यहु बन फूलै नांहि।
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ॥
जीत्या डूबै हारचा तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै।
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ॥५३॥

शब्दार्थ

१. दुलहनीं (सम्बोधन)=सौभाग्यवती स्त्रियाँ! जीवात्माओ! संसार के पुरुषो। मंगलचार=मंगलाचार, वर के आने पर गाये जाने वाले मंगल गीत। राजा राम भरतार=ईश्वर रूपी पति। रत करि= अनुरक्त करके, समर्पित करके। पंचतत=पांचों तत्त्व--पृथ्वी, जल, अग्नि आकाश, पवन। रामदेव=परम पुरुष, ईश्वर। पांहुनै=अतिथि। मैंमाती=मदमत्त। जोबन मैंमाती=यौवन के मद में मत्त अर्थात् अपने प्रिय की प्राप्तिके लिए उद्यत साधक की साधना से सम्पन्न शरीर। सरोवर= शरीर का तालाब, नाभि। सुषुम्ना नाड़ी का मणिपूरक चक्र। एक पाठ यह भी है 'नाभि कमलमें वेदी रच ले।' यों भी नाभि की उपमा 'सरोवर' से दी जाती है; कुछ लोग 'सरोवर' का अर्थ 'सर्वोपरि' (सबसे बढ़कर) भी करते हैं। भांवरि=विवाह के समय अग्नि के चारों ओर परिक्रमा, फेरे। कौंतिग आए=कौतुकवश चले आए (यह कौतुक आश्चर्यजनक घटना देखने चले आए) मुनियर=मुनिवर। व्याहि चले हैं=एकात्म हो गये हैं। पुरिष=पुरुष, ईश्वर।

२. गठरी=शरीर। चोर=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद (पंच विकार)। बटोहिया=मनुष्य, जीवात्मा। पांच=पंच विकार। पांच, पचीस=सांख्य के अनुसार २५ तत्त्व। तीन-सत्त्व सत्व, रज और तम। सौर=उपद्रव, कोलाहल। बाटु=मार्ग (ईश्वर प्राप्ति का मार्ग)। अनेड़ा इव अनिकट (नेड़ा=समीप--निकट, नियर, नियर, कियड़, नेड़, नेड़ा) दूर (अनिकट)। जाव बोर=डूब जाओगे। जोर=उपाय। भोर= प्रातः, सबेरा।

३. सिंध=ज्ञान। गाई=गो, इन्द्रियां, (मनसा सहित); वासना

को ज्ञान ठीक रास्ते पर ले जाता है, उसे इधर-उधर भटकने नहीं देता और न उसे नष्ट ही करता है। पूत=आनन्द। चेला=चित्त। गुरु=प्राण। जल=माया। तरवर=संसार। बिलाई=माया। मुरगै= (मुर्गे को) साधक को। बैलहि=बैल को (शरीर को)। गूनि=(गोणी) गोन या गुण, थैला या लादी। घटि=शरीर। साषा=इन्द्रियाँ। मूल=प्राण। फूल=सहस्रार चक्र।

वासना को ज्ञान ठीक रास्ते पर ले चलता है, उसे नष्ट नहीं करता। (ज्ञान-सुख उत्पन्न होने से, माया भी वश में होकर पीछे-पीछे चलती है। चित्त के ज्ञानयुक्त होने पर प्राण उस पर न्यौछावर हो जाते हैं।

ज्ञान उत्पन्न होने पर माया में लिपटी हुई वासना में ही ब्रह्म का अनुभव हुआ। ज्ञानी मन ने दुर्मति को नष्ट कर दिया।

गुण शरीर को छोड़कर आत्मा में लीन हुए। लौ लगने पर काल का भय जाता रहा (बिलाय गया)।

(इन्द्रियों पर प्राण विजयी हुआ और अनेक प्रकार से भक्ति भाव विकसित हुआ।)

(बीजक की एक हस्तलिखित प्रति से)

४. धागा=साँस। गगन=ब्रह्मरंध्र। सबद=शब्द, बोलने की शक्ति। प्यंड=पिंड (शरीर), संसार। पंचतत=पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि। पिंगला=मेरुदंड से दाहिने ओर की नाड़ी। इला= इड़ा, मेरुदंड से बाएं ओर की नाड़ी। सुषमन=इड़ा और पिंगला के बीच मेरुदंड के समानान्तर नाड़ी। गुण=सत्त्व, रज और तम। सेवग=सेवक। काकै=किसके।

५. सनक सनंदन=ऋषि विशेष जो बड़े ज्ञानी माने जाते हैं। ध्रू= ध्रुव, उत्तानपाद राजा के पुत्र जो विमाता से झिड़के जाने के कारण विष्णु की भक्ति करके ध्रुव (अचल) पद को प्राप्त हुए।

प्रहिलाद=हिरण्यकशिपु के पुत्र, प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त। बभीषण=रावण का छोटा भाई विभीषण। ये राम के भक्त थे। सेषा=शेषनाग। सुषदेव=शुकदेव, व्यासजी के तत्वज्ञानी विरक्त पुत्र। भेव=भेद, रहस्य। गोरख=एक सिद्ध योगी, मत्येन्द्रनाथ के शिष्य, इनके नाम पर गोरखपंथ चला। कबीर इनकी साधनाओं से प्रभावित थे। भरथरी=भर्तृहरि, गोरख या जालन्धरनाथ के शिष्य, एक प्रसिद्ध राजा जो योगी (ज्ञानी) हो गये। गोपीचंदा=गोरख या जालंधरनाथ के शिष्य एक प्रसिद्ध राजा जो योगी (ज्ञानी) हो गया था। अकल=निष्कलंक।

६. तत=तत्त्व, सार बात। भानण=भंजन करने। घड़न=गढ़ने। या बनाने। सम्रथ=समर्थ। राषै=राखै। आलमदुनी=दुनियां के मनुष्य। अयाना=अज्ञान, बोधरहित। छह दरसन=षट् दर्शन=सांख्य, योग, न्याय, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), वैशेषिक। पाषंड=कर्मकांड बाह्याचार। संजम=संयम। अरचा=अर्चना। जेतिग=जेतिक जितना। जंगम=गृहस्थ। प्रसादि=कृपा। चात्रिग=चातक, पपीहा। निहचै=निश्चय।

७. अच्यंत=अचिन्त्य, जो मन और वाणी से परे हो। च्यंत=चिंतन करो। आंन=अन्य, दूसरा। भ्रंमि=भ्रम में, उलझन में। रंचक .....तोहीं=अपने भक्त के प्रति हे केशव ! तू ही ऐसा कृपालु है कि तनिक-सी करुणा के कारण ही तू नाम धारण ही करके प्रकट हो जाता है। सबत अतीत=अतीत शब्द, अनाहत नाद या अनहद नाद। प्यंडै.....होई आवागमन से छुटकारा दिलानेवाली स्वतंत्र स्थिति न हो तो इस पिंड (शरीर) को मुक्ति दिलाकर क्या करोगे, को बहुत अल्प बताते हैं, उसे महत्व नहीं देते क्योंकि वास्तविक मुक्ति तो अनाहत नाद के अनुभव से प्राप्त होती है।

८. सुरता=श्रोता, सुननेवाला। नव दरवाजे=कान, आंख, नाक, मुख, गुदा, लिंग। दसूंदुवार=दशम द्वार अमृत स्थान, सुरति कमल

मूवा=मरा, नाश हुआ। तटि तीरथ=नदी तट, तीर्थ स्थान। वषाणें= बखान करते हैं, वर्णन करते हैं। हूती=जो है, होते हुए। न मुवा=न मरा, नष्ट नहीं हुआ। जो रह्यो समाइ = जो उसमें लीन है या डूबा हुआ है। नजरि=दिखलाई देना।

९. दिज=द्विज, ब्राह्मण। ग्यारसि=एकादशी। मसीति= मसजिद। दहूँठां=दोनों स्थानों में। तूटी=भ्रष्ट। अरध उरध=अधोर्ध्व नीचे-ऊपर। रहि=राह, मार्ग।

१०. अवधू=अवधूत, जो संसार के बंधनों से अलग रहता है। निरति=तल्लीनता। सुरति=आदि नाद (श्रुति), प्रणव; स्मरण। मुद्रा=कानों में पहनने का स्फटिक कुंडल। सींगी=सींग की तुरही। महारस=अमृत। नाद न षंडै धारा= वह नाद जो धारा न तोड़े अर्थात् निरन्तर सुनाई देनेवाला अनहद नाद। कंथा=साधु-फकीरों के पहिनने का बड़ा कुर्ता, गुदड़ी=(यहां शरीर)। सहस इकीस छ सै = दिन रात्रि के कुल श्वास (२१,६००)। निहचल=निश्चल, अचल। नाकै=सूई का वह छेद जिसमें डोरा डाला जाता है, नाके में। त्रिकुटी=भौहों के बीच के ऊपर का स्थान। सहज सुनि= परम सत्ता (ब्रह्म रंध्रका छिद्र जो बिन्दु रूप होता है, इसी स्थान पर ब्रह्म का निवास है)। ल्यौ=लौ, लगन।

११. उन्मनि=वह अवस्था जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं, और चंचलमन पूर्णतः स्थिर और वश में हो जाता है। गड़= मिट्टी का पात्र जिसमें महुए की मदिरा बनाते हैं। पुड़=पुट, ऊपर नीचे दो पात्रों का मुंह जोड़कर रखना; यहाँ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमलदल के मध्य के चन्द्राकार स्थान से बहने वाले-अमृत को प्राणायाम द्वारा कंठ को बन्द करके रोक लेना। चिगाई=जलाना। बलीता= ईंधन। महारस=अमृत। मंडला=एक बाजा; अनहद नाद। भाठी=भट्टी। काछै=पास, समीप।

१२. परजारी=जलाई । ससिहर=चन्द्रमा । राम रस=ब्रह्मानंद, चैतन्यरस। पंचजने=पाँचों प्राण (उदान सिर में, प्राण हृदयमें, समान नाभि में, अपान गुदा में, व्यान समस्त शरीर में) । खुमारी=समाधि। नागिनी=मूलाधार-चक्र की योनी के मध्य में विद्युल्लता के आकार की साढ़े तीन बार मुड़ी हुई कुंडलिनी जो सुषुम्ना नाड़ी की ओर है। चाष्या=चाखा, स्वाद लिया। सुधि=ज्ञान । उछकि=अतृप्त।

१३. उसारै=उठाना, बनाना। तलव=बुलावा। खोट कपट= छल-छंद। घटि=शरीर । सास=सांस, (श्वास)। नट नाटिक= नाटक के नट। मंदला=बाजा। पषनियां=पक्षी, आत्मा । उझरी बाजी =खेल समाप्त हो गया ।

१४. सुवटा=सुआ (सुग्गा) तोता, यहां जीव। बिलाई=काल। खता खवाई=धोखा दे देगी। तीन बार रुंधै=तीनों बार अर्थात् साँस लेने में, रोकने में और छोड़ने में वह काल आक्रमण करता है, न जाने किस क्रिया में वह दबोच बैठे। मुगध=मूढ़ । सवाई=अधिकाधिक। मंजारी=मार्जार (बिल्ली) । डहकाई=धोखा दिया।

१५. केवल राइ=परम सत्ता, परमात्मा । मंझा=हृदय में गुरु गमिबाणी=गुरु गम्य वाणी से । अनंत मूरति=विराट शक्ति, परम पुरुष । सुरता=हे श्रोता ! पिछाड़ी=पहिचान लो। पुहुपबास= सहस्रदल कमल । भवरा एक राता=जीवात्मा प्रेम-विभोर है । बारा ले उर धरिया=बालकपन से ही, प्रारंभ में ही उसे हृदय में रक्खे हुए है, उससे अनुरक्त है। सोलह=इंद्रिय और पंच तत्व । पवन=बाधा । पेष्या=पेख्या, देखा है।

१६. बाबा=गुरु। जन=भक्त । जुरा=जरा, बुढ़ापा । पास= पाश, फंदा। षंड नहिं पाडै=टूटता नहीं है। अनभै=अनुभव । बगराना= फैलाना ।

१७. चरखा=शरीर-चक्र । हजरी का सूत=सूक्ष्म भक्ति । नणद

के भइया=परमेश्वर। जलि जाई=काया। थलि=गर्भ। नगर=संसार। बिटिया=बुद्धि। बाप-ज्ञान सुबधी=गुरु। लुबधी=भाव लोभी। बहू=माया। भाई=आत्मा। अगनि=तपस्या। ठठाई=इन्द्रियों को विषय से रोका। बढ़इया=परम पुरुष। राडिनि=ज्ञानहीन आत्माएँ। परचैं=परिचय। सतगुरु=परमेश्वर।

—भावार्थ—

चित्त, तू विकारों में मत जाय। मैं उच्च कोटि की भक्ति करूँगी। मैं उच्च कोटि की भक्ति करूँगी।

मैं (जीव) जल से उत्पन्न काया धारण कर स्वयं (अपनी ही इच्छा और कर्म से) माता के गर्भ से होकर संसार में आई।

अचंभा यह कि इसी शरीर में यह सद्बुद्धि उत्पन्न हुई कि गुरु में श्रद्धा हुई।

हे गुरु, तुम मुझे परमेश्वर से मिला दो।
जब तक वे न मिलें, तुम्हीं अपनी शरण में रक्खो।

सुबुद्धि होने कर भावलोभी भगवान् के मिलन में आनन्द का अनुभव हुआ।

चित्त में ब्रह्माग्नियों को प्रज्वलित करके इन्द्रियों को विजय से रोका।

काया के सब गुण नष्ट हो जायँ, पर एक गुरु को न भूलना चाहिए।
अज्ञानियों के संग से चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

(हस्तलिखित एक बीजक की प्रति से)

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे यों समझाया है:—
यदि कालचक्र (चरखा) नष्ट भी हो जाय तो उसका निर्माण कर्त्ता

अनन्त शक्ति - सम्पन्न ईश्वर कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि यह काल-चक्र न जले, न नष्ट हो तो मैं सहस्रों कर्म कर सकता हूँ। हे गुरु, आप ईश्वर का परिचय पाकर उनसे मेरा सम्बन्ध करा दीजिए और जब तक ईश्वर न मिले, तब तक आप ही मुझे अपने संरक्षण में रखिए। आपसे प्रथम बार ही दीक्षित होने पर मुझे इस बात की चिन्ता होने लगी कि मैं किस प्रकार आपकी आज्ञा का पालन करने में समर्थ हो सकूँगा! पर मुझे आश्चर्य हुआ कि आपके प्रभाव से मेरी आत्मा अपने उत्पन्न करने वाले परमपिता ब्रह्म में जाकर सम्बद्ध हो गयी। फल यह हुआ कि मेरे हृदय में ईश्वर की व्यापकता और भी बढ़ गयी। समधी से समधी की भेंट हुई। आत्मा के पिता से गुरु के पिता ब्रह्म की भेंट हुई, अर्थात् ईश्वर की अनुभूति दुगुनी हो गयी। वाणी रूपी बहू के पास पांडित्य. रूपी भाई आया अर्थात् वाणी में विद्वत्ता और पांडित्य आ गया। उस समय कर्मकांडों से सज्जित कालचक्र की दृढ़ता और भी स्पष्ट जान पड़ने लगी। सारे विश्व को एक नजर से देख लेने पर इतना अनुभव हो गया कि विश्व की सभी वस्तुएँ मर्त्य हो सकती हैं, पर वह अनन्त शक्ति जिसने कालचक्र का निर्माण किया है कभी नष्ट नहीं हो सकती। उसने हृदय को सुचारु रूप से रखने के लिए इस कालचक्र को और भी सुदृढ़ कर दिया है। कबीर कहते हैं, कि जिसने एकबार कालचक्र के मर्म को समझ लिया वह कभी संसार के बन्धनों से बद्ध नहीं हो सकता। उसे ईश्वर की ऐसी अनुभूति हो जाती है कि उसके जन्म-मृत्यु का बन्धन नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार के और भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं।

१८. जंत्री-जंत्र=यंत्री का यंत्र, ईश्वर का नाद। नालि=यंत्र के बीच का लंबा भाग। साज=शरीर। गंध्रप=गंधर्व, देवताओं की जाति जो गाने बजाने का कार्य करती है। तांति=ताँत तार के बाजों में लगाया जाता है। करहीं=आड़े पतले से टेक जिन पर तारों के दोनों

सिरे टिकते हैं। मैण=राल और मोम की मिलावट जिससे तन्त्री के विभिन्न भागों को जोड़ते ह। गमां बत्तीस=पदों के बत्तीस-तार जो स्वयं मुख्य स्वरों के साथ बज उठते हैं। पाँचों मोरण=पाँच मुख्य तारों की खूटियाँ जो तन्त्री के मोर के आकार के सिरे पर लगी रहती हैं। बत्तीस=बत्तीसों दाँत। पाँचों मोरण=पंच ज्ञानेन्द्रियाँ।

१९. नादैं=शब्द से। नेड़ा=निकट, नियर, पास। मुकलाऊँ= फैलाऊँ । चेतनि=चैतन्य । डांडी=तंबूरे का लंबा भाग । तंती= ताँत, तंत्री (शरीर) । षाडी=छोड़ दी। तत=तत्त्व । सिव नगरी=परमोच्च स्थान । षंडूँ=खंडन करूँ। बिहँडूँ=नष्ट करूँ। बहुरि न करिहूँ फेरा= आवागमन के चक्र में नहीं पडूँगा।

२०. कूवटा=कुआँ । गगन जोति नहीं पलटै=आत्मा का रुख नहीं बदलता । चिहुँटै=चिपटना । भवर=जीवात्मा । गुफा= गुह्य स्थान, परम तत्व । त्रिकुटी संधि=दोनों भौहों के बीच का स्थान। नाभि=कवल=योगी नाभि से मणि पूरक चक्र जाग्रत करते हैं। हीरै हीरा कैसें बेधै=आत्मा परमात्मा से कैसे मिले। परचा=परि-चय हुआ। रांबीरस=राम रस अमृत। औघट घाट=कठिन घाट, कुठौर।

२१. डांडो=डंडी, बाजे का लंबा भाग। सारि=(एक प्रकार का गोंद, बिरोजा जिसे सारंगी कीं कमानी पर पर रगड़ने से वह अच्छी ध्वनि उत्पन्न करता है। निहचल=निश्चल, एकाग्र । बटवा=योगियोंका झोला। तुचा=त्वचा । मेषली=कमरपेटी । पांच करि निग्रह =कर्मे-न्द्रियों पर नियंत्रण कर। परमपद=प्रभु स्थान । जुगति=योग या युक्ति (क्रिया)।

२२. नेवगी=नियोगी, प्रबन्ध के लिये नियुक्त। पंच किसाना= पाँच ज्ञानेन्द्रिय । गाँइक ठाकुर =मन । नेपै=नापता है। काइथ

खरच न पारैं=धर्मराज का हिसाब इतना चढ़ गया है कि देते नहीं बनता, अनेक जन्म लेने पर भी मन की प्रेरणा से किये हुए पापों से मेरा उद्धार नहीं हो सकता। महतौ=मुखिया, मोह। बलाही=विपत्ति, कारक। कसदम=प्राण खींचनेवाला; मुसलिम काल में दमकश नाम का एक यन्त्र था जिसे गले में डाल कर एक चर्खी से उसकी रस्सियाँ बटने लगते थे, जिससे दम घुटने लगता था। अपराध स्वीकार करने के लिए इस दमकश का प्रयोग होता था। दिवाना=अज्ञान। दाद= फर्याद, प्रार्थना। बाकी निकसी भारी=बहुत बड़ी रकम बाकी निकली, बहुत बड़ा ऋण सिर चढ़ा निकला। सब खत करौं निबेरा=सारा खत (हिसाब) चुकता कर दूंगा।

२३. घूंघट का पट= माया का पर्दा हटा। पीव=परम शक्ति, सांई। पचरंग चोल=पंचरंगा चोला, पंचतत्व से बना शरीर। सुन्न=शून्य, परम पद, (यहाँ हृदय)। आसा=तृष्णा। जोगजुगुत= योग की युक्तियों से। रंग महल में=शरीर में ही।

२४. नैहर=यह संसार। चुनरी=शरीर। धोबिया=गु , विवेकी पुरुष। उजरी=दाग, पाप या अज्ञान आदि दूर करना। कूंडी=कूंड (बर्त्तन) या नाँद जिसमें कपड़े धोए जाते हैं। ससुरिया=ससुराल, परमात्मा के यहाँ। फुहरी=फूहड़।

२६. स्याही रंग=कालिमा, पाप। मजीठा=लाल रंग, परमेश्वर के प्रति अनुराग। चसयी चास=वह मसाला-जिससे माड़ी उतारी जातीं हैं। सीतल चुनरी=सांसारिक माया आदि से स्वतंत्र शरीर।

२७. आठ कमल दल चरखा=गुह्य स्थान के मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्मरंध्र तक योगियों के मत के अनुसार शरीर के भीतर के चक्र।

२८. मोको=मुझको। देवल=देवालय, मंदिर। काबा=मुसलमानों का तीर्थ (अरब देश में)। कैलास=हिमालय की सर्वोच्च चोटी,

जहाँ भगवान् शंकर का निवास स्थान है। खोजी=लगन का पक्का बन कर। मवास=पहाड़ के ऊपर बना हुआ दुर्ग।

२९. सासरे=ससुराल। पीव= ईश्वर, सांई। गौंहनि=स्वरूप की सिद्धि के लिए। पंच जना=यहाँ पंच तत्त्व से निर्मित शरीर। तीन जना=सत्व, रज, तम। साध नहिं पूगी=इच्छा पूर्ण नहीं हुई। हलद=विवाह से पूर्व वर और कन्या के शरीर में हल्दी तेल मला जाता है। इसे हल्दी चढ़ाना कहते हैं। सुहाग =पति - पत्नी की माँग में सिंदूर भरता है, इसे सुहाग पूरना कहते हैं। सर रचि=चिता बनाकर। तूर= तुरही।

३०. सासु=माया। ससुर=ज्ञान जो माया पर अधिकार करता है। जेठ=मोह। ननद=ज्ञानेन्द्रियाँ। गहेली=भरी हुई। देवर= सत्संग। सगौ भइया='सहज'। साबका=पति का (साब अर्थात् स्वामी का)।

३१. अलह=अल्लाह। मिहर=मिहरबानी, कृपा। महरम- मुहर्रम। ग्यारसि=एकादशी। मुकाम=निवास-स्थान। पंगुड़ा= पंगु, (लंगड़ा), सहारा लेनें वाला, (राम का)।

३२. पंच चोर=काम, क्रोध, मद लोभ, मोह। गढ़= काया। मुहकम=सुशासक (सजग)। बस्त=वस्तु। पतियाना=विश्वास करना।

३३. बैरागी=विरागी। नाव = नाम। कुलाल=कुम्हार, ब्रह्मा। भांड़ै=बर्तन (भांड=बर्तन, पात्र)। घड़िया=गढ़े या बनाए। तरवर= ब्रह्म। भौजल=भव-जाल, माया। सो फल=ब्रह्म रस। कदे=कभी भी। न आथी=अस्ति नहीं है।

३४. पाषैं=से पार्श्व में। निरति-करि=लौ लगा (उनके चरणों में प्रीति लगा)। साइर=सागर। पोयौ=डाला, भरा। हंसा= जीव जो नवद्वार के पिंजड़ें में वन्द रहता है। बिरख=संसार। नदी=

ब्रह्म (संसार में परमात्मा समाया हुआ है)। कनक कलस=शरीर। पंच सुबटा=पंच प्राण। बनराइ=पेड़, यहाँ शरीर।

३५. तनि बुनि=ताना-बाना, अच्छी तरह शोधन करलो। बिनांनी=बुनने वाला। पंच पराणी=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। उदासी=आत्मा। चौसठ बरिया=आवागमन का फेर।

३६. किरम=कृमि, कीड़ा। बारू=बालू, रेत।

३७. पांहुनड़ौ= अतिथि। सौंज=सामग्री। किन लेह=क्यों नहीं लेता। इसौ=ऐसा: धूँवरि मेह=धुँधली मेघ वर्षा (अस्थिर, शीघ्र अदृश्य होने वाला)। सैंबल=सेमर का पेड़ (शाल्मलि) जिसके फूल में केवल रुई होती है, देखने में लाल अर्थात् लुभावना होता है। साटि=अदलाबदली, विनिमय। बनिज=वाणिज्य, व्यापार।

३८. निरञ्जन=ब्रह्म। दूहूँ= दोनों। नेरा=ब्रह्म के पास कोई नहीं। महरम=मर्म।

३९. गढ़ बंका=परमपद। दोवर=दुहरा। तेवड़=तिहरा। दूंदर=शक्तिशाली। सनाह=सिर-स्त्राण।

४०. त्रिकुटी=भौंहों के मध्य का स्थान, यहाँ योगी दृष्टि को केन्द्रित करते हैं। गमि=पास पहुँचकर अथवा द्वारा। सहर=उस अनंतलोक का नगर। आदित=आदित्यवार (रविवार)। तपै निसतरे=तप से निस्तार (पार) होता है। बिषिया=विषय-भोग। तीनिदेव=त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु, शिव। तीनि नदी=इंगला, पिंगला, सुषुम्ना-इन्हें गंगा यमुना और सरस्वती भी कहते हैं। कुसमल=कश्मल, मैल।

४१. सींगी=श्रृंगी बाजा (अनाहद शब्द ही मानों श्रृंगी बाजा है)। सनांन=स्नान। मेषली=कमर पेटी। बंकनालि=कुंडलिनी का दूसरा नाम—यह साढ़े तीन बार मुड़ी हुई है—सुषुम्ना नाड़ी की ओर। यह सर्जनात्मक शक्ति है, इसी के जाग्रत होने से योगी

सिद्धि प्राप्त करते हैं। कासी=काशी, आज्ञा चक्र के समीप इड़ा (गंगा या बरना) और पिंगला (यमुना या असी) के मध्य का स्थान काशी कहलाता है। यहाँ विश्वनाथ का निवास है।

४२. हार=आत्मा। पंच सखी=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ।

४३. साल=चटसार, पाठशाला। आल जाल=ऊल जलूल। संनामुरुकां=शण्डामर्क, प्रह्लाद के गुरु। गारि=गाली। गिलारि=नृसिंह।

४४. कवल=परम पुरुष के पास। वनासपती=बनस्पति, यहां बन। रूसी=रोने लगी। दह दिसि=दसों दिशाओं में। भँवरा=जीवात्मा। भँवरी=गुरु। डाव=दाँव।

४५. मृगनि=इन्द्रियों ने। बासुरि=बासर, दिन। बिड़रत=भागते नहीं। किरषी=खेती, कर्मजाल, फैलाने वाली। बिझुका=पक्षियों को डराने के लिये खेत में रक्खा गया पुतला। बरियाँ=अन्न की बालियाँ या इस बार।

४६. लोका=लोग, मनुष्य। निहोरा=अहसान, श्रेय। लाहा=लाभ। साध=साधु। सत=सत्य।

४७. बिधि- न खेद=विधि-निषेध।

४८. पैकंबर=पैगम्बर (ईश्वर का दूत)। पनह=पनाह, शरण। दरिया=कृपालु। नजरि=दृष्टि। कमिबखत=अभागे। हिकमत=उपाय। हलाल=मारना। निवालै=भोजन के लिये। खालिक=सृष्टि कर्त्ता।

४९. पंचबाइ=पांच वायु (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)। कवल=हृदय। निरञ्जन=परमात्मा, (कबीर निर्गुण ईश्वर के उपासक थे, अतः वह उसे बिना अंजन (बिना रूप का मानते थे।) संपुट=कमल संपुट (हृदय)। निगुरा=बिना गुरु वाला।

५०. बिस्न=बिष्णु । कृस्न=कृष्णै, गोविंद। अलह्=अल्लाह्। रब= परमेश्वर (रब्ब)। गमि=तक, पहुँच कर।

५१. मजन=शुद्ध करके। गंगा-यमुना=इड़ा और पिंगला नाड़ियों के प्रतीकात्मक नाम। जेवड़ी=बंधन (रस्सा) ?

५२. करणी-कारण=कार्य-कारण सम्बन्ध मिट गया। प्रजरे=जलता है। घाल्यौ=नष्ट किया। च्यंत=परमेश्वर का चिन्तन। च्यंत=चिंता। उलटी गंग=कुंडलिनी। मेरे=सहस्रार चक्र। ससिहर=चंद्र। राह्=राहु।

५३. मैं मैं=अहंकार वृत्ति। स्यंघ=अहंकार। स्याल=सियार, ज्ञान। बनराइ=यहाँ बन या जंगल। जीवत ही मरै=जीवन्मुक्त हो जाय।

(यथासंभव सभी कठिन स्थलों के अर्थ दे दिए गए फिर भी जहाँ कठिनाई हो या भ्रम हो अथवा कोई भूल हो तो निस्संकोच होकर संपादक से पत्र व्यवहार कीजिए।)